वर्ष १ २५ दिसम्बर, १९६८ अंक १
वार्षिक मूल्य १५.०० एक अंक का मूल्य ४.००

स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्

विषय-सूची

सम्पादकीय

सिन्धुघाटी की लिपि में
ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक १–७६
—डॉ० फतहसिंह

पृष्ठ ४९ का शुद्धिपत्र ७७–७८

शङ्करीसङ्गीतम् १–३२
—लक्ष्मीनारायण गोस्वामी

संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्ति १–२८
—म० विनयसागर

सम्पादकीय

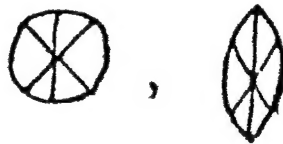
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान के लिए एक मुखपत्र की आवश्यकता बहुत दिनों से अनुभव की जा रही थी। प्रतिष्ठान के संस्थापक तथा भूतपूर्व निदेशक श्री मुनि जिनविजयजी ने कई बार योजना बनाई और दो एक बार तो उसके लिए कुछ पृष्ठ छपवा भी लिये, परन्तु अनेक विघ्न-बाधाओं के उपस्थित हो जाने से वह योजना कार्यरूप में परिणत न हो सकी। अतः स्वाहा का प्रकाशन श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी के उन अधूरे कार्यों में से एक है जिन्हें वे, अपनी बहुक्षेत्रीय तथा विविध गतिविधियों के कारण, अपने कार्यकाल में पूरा नहीं कर सके और जिसको पूरा करने का गौरव अपने उत्तराधिकारी को प्रदान कर गये। श्री मुनि जिनविजयजी इस संस्था के निर्माता तथा पुरातत्त्व के अत्यंत अनुभवी आचार्य हैं, अतः उनकी इच्छा को कार्यरूप में परिणत करते हुए, स्वाहा-परिवार एक हर्ष और गर्व का अनुभव करता है और परम प्रभु से प्रार्थना करता है कि श्री मुनि जिनविजयजी हमें दीर्घकाल तक अपना प्रेरणा पूर्ण आशीर्वाद प्रदान करते रहें।

स्वाहा का उद्देश्यः—स्वाहा का मुख्य उद्देश्य प्रतिष्ठान में सुरक्षित उन अनेक लघु कृतियों को प्रकाशित करना है जिनका स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में निकालना संभव नहीं, परन्तु जिनका शीघ्रातिशीघ्र प्रकाश में आना अत्यावश्यक है। अतः स्वाहा के प्रत्येक अंक में कोई न कोई लघु ग्रंथ सम्पादित होकर प्रकाशित होता रहेगा। इसके साथ ही धीरे-धीरे प्रतिष्ठान के उन बहुमूल्य दुर्लभ्य ग्रंथों का परिचय भी इस पत्रिका के माध्यम से करवाया जायेगा जो हमारे यहां आगामी प्रकाशन योजनाओं में सम्मिलित होने वाले हैं अथवा जिनका संपादन यहां पर किया जा रहा है। ऐसा करने से हमें इस विषय में देश के विभिन्न विद्वानों की बहुमूल्य सम्मति प्रकाशन से पूर्व ही मिल सकेगी जिससे हमें अपने कार्य में बड़ी सहायता मिलेगी। स्वाहा के द्वारा प्रति वर्ष हम उन दुर्लभ ग्रंथों की सूची भी विद्वानों तक पहुंचाने का प्रयत्न करेंगे जो हमें वर्ष भर में प्राप्त हो सकेंगे। यहां अब तक लगभग ९० हजार हस्तलिखित ग्रंथ संगृहीत हो चुके, परन्तु उनमें से केवल २० हजार ग्रंथों के सूचीपत्र ही प्रकाशित हो पाये हैं, अतः जिन ग्रंथों का सूचीपत्र नहीं बन पाया है उनमें से भी दुर्लभ प्रतियों को छांट कर विद्वानों की जानकारी में लाना एक महत्वपूर्ण कार्य होगा, यद्यपि इसको पूरा करने के लिये अभी हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं।

प्रतिष्ठान के विद्वान् जो शोधकार्य करते हैं वह भी लेख रूप में स्वाहा के माध्यम से अन्य विद्वानों के सामने आ सकेगा और इस विषय में हमें स्वाहा के पाठकों के विचार और बहुमूल्य सुझाव मिल सकेंगे। प्रथम अंक से ही "सिंधुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक" शीर्षक से एक लेख-माला निकल रही है जिसमें सिंधुघाटी की लिपि पर यहां जो शोध कार्य हो रहा है उसका समावेश किया जावेगा। इस विषय में अनेक विद्वान् पहले कार्य कर चुके हैं और इस समय भी कुछ लोग कार्य कर रहें हैं। फिर भी इस प्रतिष्ठान को इस क्षेत्र में जो एक दिशा मिली है उसको समर्थ विद्वानों के सम्मुख परीक्षार्थ रक्खा जा रहा है। हमारे विद्वान् पाठक इन लेखों पर अपनी जो भी समीक्षा करने की कृपा करेंगे उसके लिए हम उनके अत्यंत आभारी होंगे और उस समीक्षा से पूरा लाभ उठाने के लिये सदा उद्यत रहेंगे।

वर्णमाला

सिंधुघाटी	नागरी	सिंधुघाटी	नागरी
I, 0, O	अ	⊓,]	ग
', ʃ	इ	ω	घ
ʅ	ई	ϒ	च
U	उ	J, ⌒, ∩, ∩, ℓ	ज
W	ऊ	),)	ण
|/	ए	1, ⅄	त
ɺ, ϑ	ओ	), △, Δ	द
F, ᒣ	ऋ	D, ⧓, ⋈	ध
"	अनुस्वार	", ∧, ∪, ∨, ♀, III, 9	न
+	क	⬭, 0, O	प
⊓III, ⊓II, X	ख	Ö	भ

वर्णमाला		संश्लिष्ट वर्ण	
सिंधुघाटी	नागरी	सिंधुघाटी	नागरी
	ब		अग्नि
	म		इंद्र
	य		इंदु
	र		वृत्र
	व		मनु
	स		राष्ट्र
	श		अंन्न
	ह		एकत्रित (एकत + द्वित + त्रित
	त्र		वषट्

EXCAVATIONS AT HARAPPA

Volume II

लिपि-द्रव्य

1. Pl. XCVII 539

2. Pl. XCVII 517

3. Pl. XCVII 502

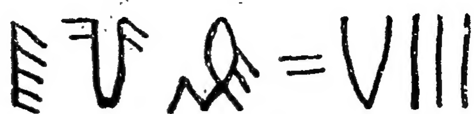
4. Pl. XCVII 505

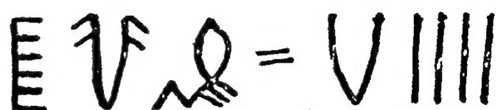
5. Pl. XCVII 506

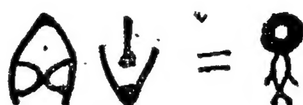
6. Pl. XCVII 551

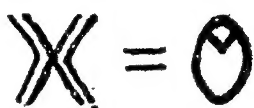
7. Pl. XCVII 499

8. Pl. XCVII 501

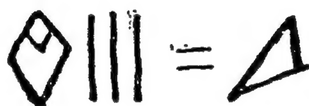
9. Pl. XCVII 542 

10. Pl. XCVII 543 

11. Pl. XCVII 521 

12. Pl. XCVII 545 

13. Pl. XCVII 546 

14. Pl. XCVII 518 

15. Pl. XCVI 442 

16. Pl. XCVI 443 

17. Pl. XCVI 489 

लिपि-त्रय

18. Pl. XCVII 575

19. Pl. XCVII 580

20. Pl. XCVII 573

21. Pl. XCVII 576

लिपि-चतुष्टय

22. Pl. XCIX 635

सिंधुघाटी की लिपि में
ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक
१. परिचय

[फतहसिंह, एम-ए, डी.लिट्]

आधुनिक विद्वान् प्राय: एक स्वर से सिंधुघाटी की सभ्यता को अवैदिक स्वीकार कर चुके हैं। अधिकांश इतिहासकार, उसे अविभाजित भारत की प्राचीनतम सभ्यता मानते हुये भी, अवशिष्ट भारत की सभ्यता से उसको नितांत भिन्न मानते हैं। कुछ लोग तो इस भेद पर इतना जोर देते हैं कि उनकी सम्मति में यह प्रदेश अवशिष्ट भारत के हिन्दू-साम्राज्य में चंद्रगुप्तमौर्य्य के शासन-काल को छोड़कर, और कभी भी सम्मिलित[1] नहीं हुआ। इसी आधार पर डॉ० मॉर्टीमेर ह्वीलर[2] ने पाकिस्तान की संस्कृति को पांच हजार वर्ष पुरानी बताया है और उसकी प्राचीनतम (सिंधुघाटी) सभ्यता के विध्वंसकों में उन विदेशी आर्यों की गणना की है जो आधुनिक हिंदुओं (आर्यों) के पूर्वज थे। इसी पद्धति के संदर्भ में सिंधुघाटी की लिपि को, अवशिष्ट भारत की लिपियों से विपरीत, दाहिनी से बाईं ओर को लिखा हुआ माना गया और उसका सम्बन्ध प्राय: अभारतीय लिपियों से जोड़ने का प्रयत्न किया गया[3]। इसी दिशा में चलते हुये, स्वर्गीय फादर हेरास तथा उनके शिष्यों ने सिंधुघाटी की तथाकथित अनार्य-संस्कृति के उन तत्त्वों को उद्घाटित किया जिन से मिलकर शाक्त, जैन, शैव, योग आदि की परम्पराओं का विकास[4] हुआ है। डॉ० कार्मारकर[5] की दृष्टि में ये सभी परम्पराएं अवैदिक व्रात्य और सम्भवत: द्रविड़ हैं, जब कि कुछ जैन-विद्वानों[6] ने इसी आधार पर, सिंधुघाटी की संस्कृति को अनार्य जैन-संस्कृति तथा उसके विध्वंसकों को बर्बर और हिंसक आर्य कहना प्रारम्भ कर दिया है।

---

(१) द्रष्टव्य—Green and Crescent in Pakistan.
(२) द्रष्टव्य—Five Thousand years of Pakistan.
(३) Marshal, Mackey and Vats in their works on Mohenjodaro and Har appa Exavacations. See also Hunter, The Script of Harppa and Mohenjodaro, and its connection with other scripts.
(४) La Religion de las proto-Indians.
(५) The Religions of India, Vol. I.
(६) Shri Ramachandra Jain,

ऐसी स्थिति में सिंधुघाटी की सभ्यता में वैदिक तत्त्वों को देखना सम्भवत: क्षम्य न समझा जाय, परन्तु श्री के० यन० शास्त्री[१] के शब्दों में 'हमें विदेशियों द्वारा गढ़ी हुई प्रत्येक बात को स्वीकार कर लेना उचित नहीं। हमारे स्वतन्त्र विचार होने चाहियें और दूसरों के मतों को स्वतन्त्र साक्ष्य की कसौटी पर कसने की क्षमता होनी चाहिये।' श्रीशास्त्री का यह कथन सिंधुघाटी-सभ्यता के संदर्भ में बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि इस विषय में अनेक ऐसे पूर्वाग्रहों की सृष्टि हो चुकी है जो हमें यह मानने को विवश करते हैं कि भारतीय संस्कृति के सभी प्रमुख तत्त्व तथा उनके स्रष्टा भारत के बाहर से आये। इसी के साथ वर्तमान युग की यह धारणा भी उक्त संस्कृति के मूल्यांकन में बाधक हुई है कि विज्ञानके समान ही, दर्शन तथा अध्यात्म के क्षेत्र में भी, मानव उत्तरोत्तर उन्नति करता चला आया है और प्राचीन युग में सर्वत्र और सर्वदा उसका धर्म एवं दर्शन जादू-टोना तथा अन्ध-विश्वास मात्र था। पिछले तीस वर्षों में अधिकांश समय मैंने इन्हीं पूर्वाग्रहों के वशीभूत होकर सिन्धुघाटी-सभ्यता का मूल, भारत से बाहर, खोजने का प्रयत्न किया, परन्तु अंत में सब प्रयत्नों का परिणाम यही निकला कि इन पूर्वाग्रहों से मुक्त हुए बिना सिन्धुघाटी-सभ्यता का स्रोत जानना सम्भव नहीं।

सिंधुघाटी की लिपि

इसमें सन्देह नहीं कि सिन्धुघाटी-सभ्यता का रहस्य उसके मुद्रा-चित्रों पर अङ्कित लिपि में छिपा हुआ है। इस लिपि को फादर हेरास, डॉ० प्राणनाथ, स्वामी शङ्करानन्द, राजमोहननाथ तथा सबसे अधिक श्री सुधांशुकुमार रे ने पढ़ने का दावा किया है, परन्तु अभी तक इनके प्रयत्नों का कोई सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकल सका है। उदाहरण के लिए एक विद्वान् के अनुसार, मोहेनजोदरो के एक[२] मुद्राचित्र पर पशु की आकृति के ऊपर 'खांसने वाला इकसिंगा' लिखा है, जब कि मेरी सम्मति में वहाँ 'अत्रि अग्निमान अन' शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक को वैदिक दर्शन का पारिभाषिक शब्द माना जा सकता है। प्राय: विद्वान् लोग यह मान कर चले हैं कि सिन्धुघाटी के मुद्राचित्रों पर एक ही लिपि प्रयुक्त हुई है, परन्तु मुझे अभी तक चार लिपियों का पता चल चुका है जिनमें से

(१) New Light on Indus civilization, Vol. 1. p. 5.
(२) द्रष्टव्य-M. I. C. seal No. 19 Sudhanshu Kumar Ray Memorandum No. 1 Indus Script.

तीन निस्सन्देह बाईं से दाहिनी ओर को लिखी जाती थीं[1] और सम्भवतः एक को दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखा[2] जाता होगा। यद्यपि अभी तक सभी मुद्रा-चित्रों एवं लेखों का अनुवाद सम्भव नहीं हो सका है, परन्तु अभी तक जो कुछ भी पढ़ने में सफलता मिली है उससे इतना स्पष्ट है कि सिन्धुघाटी-सभ्यता में ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों के प्रतीक प्रचुरता से उपलब्ध हैं। ये प्रतीक न केवल हडप्पा से प्राप्त मुद्राचित्रों में पाए गए हैं, अपितु इनका अस्तित्व उन मुद्रा-चित्रों पर भी पाया जाता है जो मोहेनजोदरो की निम्नतर एवं निम्नतम स्तर की गहराई पर पाए गए हैं। इसके अतिरिक्त इनके लेखों की विशेषता यह है कि अभी तक मुझे ऐसा कोई लेख नहीं मिला जो किसी न किसी दार्शनिक अथवा धार्मिक तत्त्व की ओर संकेत न करता हो। भविष्य के अनुसन्धान का क्या परिणाम हो ? इस पर अभी कुछ कहना कठिन है, परन्तु अब तक की उप-लब्धियों के आधार पर मुझे सिन्धुघाटी-सभ्यता ब्राह्मण-ग्रंथों और उपनिषदों के समय की प्रतीत होती है।

यह निष्कर्ष निस्सन्देह भारतीय इतिहास की कई मान्यताओं को धराशायी करता है। मोहेनजोदरो और हडप्पा के लेखों में अग्नि, इंद्र, इदु, वृत्र, वरुण, अज, अजा, श्येन, उमा, उषा, उखा, क, अन, अप आदि शब्दों का उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होना जिनमें वे ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में होते हैं, सिन्धुघाटी की सभ्यता को उत्तरवैदिक काल का सिद्ध करता है। इसके फलस्वरूप एक ओर तो संहिताकाल को ईसा से हजारों वर्ष पूर्व सरकाना पड़ता है और दूसरी ओर वैदिक लोगों के आदि देश की समस्या पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता पड़ जाती है। सिन्धुघाटी के लेखों से तद्वनं, वषट्, प्रणव आदि शब्दों की व्युत्पत्तियों पर तथा ब्राह्मणग्रंथों में प्राप्त विचित्र समीकरणों अथवा पर्याय-योज-नाओं पर जो नवीन प्रकाश पड़ता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार भारतीय योग, मन्त्र, तन्त्र, आगम, पुराण, शैवमत, शाक्तमत आदि का स्वाभाविक सम्बन्ध वैदिक परम्परा से जुड़ा हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि मेरे इन निष्कर्षों के विरोध में विद्वानों ने पहिले से ही अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर रक्खे हैं, परन्तु मेरा अनुमान है कि जैसे-जैसे 'स्वाहा' में सिन्धुघाटी के मुद्राचित्रों एवं लेखों की व्याख्या क्रमशः निकलती जाएगी वैसे-वैसे वे प्रमाण निराधार सिद्ध होते

(१) देखिए लिपिद्वय पटल १ तथा लिपित्रय पटल २।
(२) देखिए लिपित्रय पटल ३।

जायेंगे। यह कार्य अवश्य बहुत समयसाध्य है, परन्तु इसके अभाव में समस्या का कोई निर्णायक हल निकलना सम्भव नहीं।

सिंधुघाटी का अवर्ण

आज से लगभग २६ वर्ष पूर्व इंदौर की 'वीणा' में और पुनः इसके लगभग १५ वर्ष बाद लखनऊ की 'त्रिपथगा' में मैंने इस प्रचलित मत का खंडन किया था कि वह हमारी प्राचीन लिपियों का विकास किसी चित्र-लिपि से हुआ है। कुछ उदाहरण देकर, वहाँ इस मत का प्रतिपादन किया गया था कि योरोप और एशिया की अधिकांश लिपियों का मूलाधार सामान्यतः उच्चारण में प्रयुक्त अंगों की आकृति-विशेष है जो किसी ध्वनि-विशेष के उच्चारण करने में मुख के भीतर या बाहर बन जाती थी। इस प्रसंग में, विभिन्न लिपियों के अवर्णों की समीक्षा करते हुये, वहाँ यह निष्कर्ष निकला था कि मूलतः दो प्रकार के अवर्ण प्रचलित थे—एक फारसी लिपि के अलिफ की तरह दंडाकार और दूसरा दो वक्र रेखाओं से निर्मित फारसी ऐन अथवा ब्राह्मी अकार के समान। सिंधुघाटी के अकार के विषय में भी यह बात खरी उतरती है। वहाँ दण्डाकार अवर्ण तो प्रचलित है ही, परन्तु उसके साथ ही वक्र रेखाओं से निर्मित अकार या तो लंबे खरबूजे की खड़ी आकृति का है अथवा वृत्ताकार हो गया है।

तीनों प्रकार के अवर्ण सिंधुघाटी में एक प्रतीक-परंपरा से संबंध रखते प्रतीत होते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (४, १, ३) के अनुसार निर्गुण आत्मा की पुरुषरूप में कल्पना की गई है जो सगुण होने पर क्रमशः (१) अहंनाम (२) आलिंगनबद्ध स्त्री-पुरुषसदृश तथा (३) दो पृथक् खंडों, पति और पत्नी से अनेक प्रजाओं की सृष्टि है। सिंधुघाटी में इनमें से प्रथम का प्रतीक दण्डाकार, दूसरे का खरबूजाकार तथा तीसरे का वृत्ताकार अ माना गया प्रतीत होता है। अतः प्रथम रूप में वह दंडधारी पुरुष है और दूसरे में उसके पास खरबूजाकार अवर्ण तथा तीसरे में वह वृत्ताकार अवर्ण से संयुक्त दिखाया जाता[1] है। श्वेताश्वतर[2]-उपनिषद् (४,३) का कथन है कि वह दण्डधारी होने से यद्यपि जीर्ण होने का भ्रम उत्पन्न करता है, परन्तु वस्तुतः इसके भीतर (द्वितीय अवस्था के)

१) द्रष्टव्य-द्वितीय पटल।

(२) त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवति विश्वतोमुखः। (श्वे० उ० ४,३)

स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी का द्वैत बीजरूप में विद्यमान है और इसीलिये वह (तृतीय अवस्था में) जन्म लेते ही 'विश्वतोमुख' (नानारूप) हो जाता है। इससे पूर्व एक अन्य श्लोक[१] में उक्त तीनों अवस्थाओं को क्रमशः (१) अवर्ण (२) निहितार्थ अवर्ण तथा (३) अनेकवर्ण कहा गया है। इस प्रकार जब एक अवर्ण को 'निहितार्थ' होकर अनेकवर्णों के रूप में परिणत होने वाला कहा जाता है, तो वर्णमाला के रूपक द्वारा एक आत्मा में विश्व के समस्त नानात्व की सृष्टि का ही वर्णन अभीष्ट होता[२] है।

सिंधुघाटी की भाषा में इस नानात्वमयी विश्वसृष्टि को 'नामरूप'[३] कहा गया है और इसके प्रतीकस्वरूप दो दण्डाकार अवर्णों का प्रयोग होता है, क्यों कि यह नामरूप 'अन' और 'अन्न' नामक दो तत्वों का ही संयुक्त[४] रूप है। छान्दोग्य-उपनिषद्[५] की भाषा में यह 'अन' ही वैश्वानर आत्मा (प्राण) है जो सभी लोकों, सभी भूतों और सभी आत्माओं में अन्न खाता है। इस विश्व में सर्वत्र प्राण (अन) अन्न के द्वारा गृहीत[६] है, अन्न ही आयतन[७] है, अन्न ही सब जीवों का शरीर[८] है जिसमें 'अन' नामक भूमा (श०१,१, २,६) निवास करता है। यह 'अन' ही शतपथ-ब्राह्मण के शब्दों में अन्नाद[९] अग्नि है जिसे कभी-कभी 'अत्ता' या 'अत्रि' भी कहा जाता है (श० १०,६,२,२-४)। सिन्धुघाटी में इस अन्नगृहीत विश्वात्मा 'अन' को इंद्र-नाम भी दिया गया है और हडप्पा से प्राप्त एक लेख[१०] में 'इद्र' शब्द को इस तरह से लिखा गया है कि एक पुरुष की आकृति बन गई है जिसके एक हाथ में 'प' वर्ण है और दूसरे में 'उ' वर्ण। यह प-वर्ण आत्मा की उस

---

(१) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्धया शुभया सयुनक्तु ।। (श्वे० उ० ४,१)

(२) द्रष्टव्य-श्वे० उ० ४, २-४।

(३) MS. Exavations at Harappa, plate XCVII, seal 552

(४) वही seal 505. तु०क०–छा०उ० ५,२, १-२।

(५) स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेषु आत्मसु अन्नमत्ति (५,१८,१)

(६) अन्नमेव ग्रहः। अन्नेन हीदं सर्वं गृहीतम् (श०, ४,६,५,४) तु०क०–७,५,१,१६; ७,५,१,२०।

(७) अन्नं वाऽआयतनम (श० ६.२,१,१४)

(८) अन्नं वै सर्वेषां भूतानामात्मा (गो०उ० १,३)

(९) अन्नादोऽग्निः (श० २, १,४,२८; २,२,४,१)

(१०) MS. EX.H., seal 599

'परा' शक्ति का द्योतक है जिसे उसकी 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया' कहा गया है (श्वे०उ० ६,८) और जिसके संयोग से ही वह आत्मा 'अन' तथा 'अन्न' की संयुक्त सृष्टि बनता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए हड़प्पा के उक्त लेख में इंद्र के पवर्णधारी हाथ के पास दो दंडाकार अवर्ण बनाए गये हैं जिन्हें ऊपर 'अन' और 'अन्न' का प्रतीक बताया गया है। मानों इसी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उक्त दो दण्डाकार अवर्णों के पूर्व 'अन्नामो' समस्तपद लिखकर बतला दिया गया है कि ये दोनों दण्डाकार अवर्ण क्रमशः 'अन्न' तथा 'अम' (ज्येष्ठ प्राण[1]) के प्रतीक हैं। इसके विपरीत इंद्र के उवर्णधारी हाथ के पास भी 'अन्न' शब्द लिखा है, परन्तु यह 'अन्न' प्रथम अन्न से भिन्न है, क्योंकि प्रथम में खरबूजाकार अवर्ण है जब कि दूसरे में दंडाकार अवर्ण। उवर्ण[2] सिंधुघाटी एवं वैदिक परंपरा में समान रूप से ज्योति का प्रतीक है; अतः उसका संबंध एक दण्डाकार अवर्ण वाले सूक्ष्म अन्न से है, जब कि पहले का संबंध खरबूजाकार अवर्णवाले स्थूल अन्न से है। इस प्रकार सिंधुघाटी के लेखों में एक दार्शनिक परंपरा है जो विश्व की सृष्टि को अभिव्यक्त करती है।

यह दार्शनिक परम्परा दंडाकार अवर्ण के अतिरिक्त सम्पुटाकार प-वर्ण से प्रारम्भ होती है। सिन्धुघाटी के एक विवृत मुद्रा[3]-चित्र में एक ओर एक पुरुष को एक पैर की एडी पर बैठ कर वीरासन लगाए और हाथ में दंडाकार अवर्ण को लिए हुए दिखाया गया है और इसके सामने एक स्त्री झुकी हुई प-वर्ण को दोनों हाथों से उठाए हुए है। इस अवर्ण की तुलना श्वेताश्वतर-उपनिषद् के निर्गुण ब्रह्मरूपी अवर्ण से की जा सकती है जो 'शक्ति' के योग से अनेक वर्णों (नामरूप) को धारण करता[4] है और पवर्ण निस्सन्देह उस परा का पहला वर्ण है जो उस अवर्ण की शक्ति का नाम[5] है। प-वर्ण की कुछ ढली[6] हुई या पत्थर आदि

(१) तु०क०—अमो नामासि अमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः(छा०५,६-७) और M E.H. की plate XCVII 442 तथा 474 जहां क्रमशः अम और अमा शब्दों की व्याख्या है।

(२) MEH. plate XCVII, seal 539 में 'उ' को मा कहा गया है।

(३) Mackey, Further Exavacations at Mohenjodaro, plate XC, 9; 10; 11 etc.

(४) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति (श्वे० उ०, ४, १)

(५) पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च (श्वे० उ०, ६, ८)

(६) Mackey further Exavacations at Mohenjodaro, plate xc. 9,10 ;11

की आकृतियां भी मोहेनजोदरो से प्राप्त हुई हैं, इनमें से कुछ आकृतियों के एक पहल पर 'न' वर्ण बना हुआ है। प-वर्ण से 'अ' का संयोग होने से 'अप' शब्द बनता है जिसका अर्थ वैदिक भाषा में 'कर्म' और 'जल' है; इसी प्रकार 'न' वर्ण के साथ 'अ' वर्ण का संयोग होने से 'अन' शब्द बनता है जो उपनिषद् की भाषा में प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान में व्याप्त 'अन' है और मूल या पूर्ण (भूमा) प्राण[1] का द्योतक है। ब्राह्मणों में अन-शब्द यज्ञ[2] का भी वाचक माना गया है और सिंधुघाटी[3]-परम्परा में दो 'अप' के साथ 'अन' मिलने से यज्ञ का उद्भव माना गया प्रतीत होता है। प-वर्ण की आकृति के एक पहलू पर कभी-कभी ज-वर्ण और दूसरे पर न-वर्ण बना मिलता है जिससे 'यज्ञ' शब्द की उस व्युत्पत्ति[4] की याद आ जाती है जिसके अनुसार उसे 'जन्' धातु से निष्पन्न माना जाता है। वैसे एक से अनेकता में परिणत होना अथवा प्रजापति[5] का अनेक प्रजाओं के रूप में हो जाना यज्ञ है। अस्तु, एक अ-वर्ण द्वारा परा-शक्ति के संयोग से प्राण (अन), कर्म (अप) तथा यज्ञ के अंतर्गत आने वाला प्रसार (या सन्तान) सिन्धुघाटी और उपनिषत्-परम्पराओं में सामान्य रूप से मान्य प्रतीत होता है।

सिन्धुघाटी के जिस चित्र में उक्त पुरुष और प्रकृति के क्रमशः 'अ' और 'प' वर्ण का उल्लेख किया गया है उसमें स्त्री के पीछे 'उ' वर्ण रक्खा हुआ है और उसके पास ही एक पुरुष खड़ा हुआ है। निस्संदेह यह 'उ' वर्ण स्वयं उस 'प' वर्ण का ही अर्द्धांश है जो उक्त अ-वर्ण के संपर्क में आने पर द्विधा विभक्त होकर दो उकारों की सृष्टि कर देता है; इन दोनों के अतिरिक्त इन दोनों उकारों का एक संयुक्त रूप भी सिंधुघाटी में माना गया है जो उक्त दंडाकार

---

(१) भूमा वा अनः (श० १, १, २, ६) M.F.E. Plate xc. 9 में प-वर्ण के पार्श्व को तोड़ कर जो हठात् अ-वर्ण को डालने का प्रयत्न किया गया है वह भ्रामक है, वस्तुतः प-वर्ण की आकृति ठीक मुद्रा ११ के समान है।

(२) यज्ञो वा अनः (श० १, १, २, ७; ३, ६, ३, ३)

(३) M. F. E. M. plate xc, 15 a–b जहां दो संयुक्त 'अप' के पास 'अन' शब्द बना कर पास में यज्ञ लिखा है।

(४) स तायमानो जायते स यज्जायते तस्माद्यजुजो यजुर्हो ह वै नामैतद्यज्ञ इति। (श० ३, ६, ४, २३)

(५) गो० उ० २, १८; तै० १, ३, १०, १०; ऐ० २, १७ इत्यादि।

अ-वर्ण के ऊपर रक्खा हुआ, अन्य उकारद्वय के साथ दिखाया जाता[१] है। ब्राह्मण[२]-ग्रन्थों में 'उ' (उक्) अग्नि, आदित्य तथा प्राणनामक ज्योतियों के नाम हैं; इन्हीं को बृहदारण्यक-उपनिषद्[३] में क्रमशः वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय पुरुष अथवा अग्नि, आदित्य और इंद्र भी कहा गया है। सम्भवतः उकार-सर्जन के प्रसंग में अ-वर्ण (निष्कल ब्रह्म) की उक्त पराशक्ति का नाम सिन्धुघाटी में 'उमा'[४] माना गया है, इसीलिए एक मुद्राचित्र[५] में इंद्र के साथ उमा भी लिखा है और एक पुरुष एक वृक्ष को एक 'उकार' प्रदान कर रहा है।

सिन्धुघाटी का यह वृक्ष निःस्सन्देह मानव-शरीर है जिसे बृहदारण्यक-३, ९, २८ में स्पष्टतः सांगोपांग वृक्षरूप में वर्णित किया गया है। मोहेनजोदरो के एक मुद्राचित्र[६] में मानव-शरीर को प्राणवृक्ष के रूप में दिखाया गया है जिसका तना विशाल दण्डाकार अवर्ण है और उसकी प्रत्येक पत्ती की आकृति इस प्रकार बनाई है कि 'अन' शब्द लिख जाता है। इस वृक्ष पर भी एक पुरुष अपनी एडी पर वीरासन जमाए हुए हाथ से नीचे खड़े व्याघ्र को उकार भेंट कर रहा है। मानव-शरीररूपी वृक्ष में उपर्युक्त तीन पुरुष अग्नि, आदित्य(वायु) इंद्र (अथवा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय) हैं जिनमें से प्रथम दो क्रमशः तृतीय के कर्ता एवं ज्ञात-रूप के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों में कभी-कभी संघर्ष भी संभव है; अतः उक्त इंद्र-उमा वाले वृक्ष[७] के पास दो पुरुष लड़ने पर तुले हैं और उनके हाथों में जो शस्त्ररूपी वृक्ष-शाखा है उसकी पाँच-पाँच पत्तियाँ क्रमशः पंच कर्मेन्द्रियों और पंच ज्ञानेन्द्रियों की प्रतीक हैं। इन दोनों के बीच में खड़ी बीच-बचाव करने वाली देवी संभवतः उमा-शक्ति है और वृक्ष के ऊपर बैठा हुआ तृतीय पुरुष (इन्द्र) व्याघ्र को जिस आकृति के पास जाने से रोक रहा है वह दो अक्षरों का 'वन' शब्द बनाती है।

सिंधुघाटी के इस 'वन' की तुलना केनोपनिषद्[८] के 'तद्वनं' से की जा

---

(१) M.F.EM., plate XC, seal 13. a.
(२) श० १०,३,१,४;१०,६,२,८-९;१०,६,२,१०;१०,४,१,२३।
वृ०उ० १,५,३-१३।
४) उं निर्मांति इति उमा; तु० क०—इन्द्र तथा उमा हैमवती के० उ० ३, १२।
(५) M. F. E. M. plate XC, seal 23-a.
(६) वही, plate XC, VI, seal 522.
(७) M.F.E.M. plate XC, seal 23 b a, 24 b.
(८) तद् ह. तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम् (के. उ०४, ६)

सकती है जो अग्नि, वायु तथा इंद्र के अतिरिक्त एक चतुर्थ पुरुष है और जिसको इंद्र ही उमा की सहायता से जानता[1] है। सिंधुघाटी के चित्र में भी इंद्र तथा उमा का एक साथ आना इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है कि इस चित्र का 'वन' और उपनिषद् का 'तद्वनं' उस तुरीय ब्रह्म के प्रतीक हैं जिसकी शक्ति से उक्त तीनों पुरुष शक्तिमान् हैं और जो संभवतः शरीररूपी वृक्ष का व्यापक मूलाधार माना जाता था। जैसा कि आगे देखेंगे, सिंधुघाटी के मुद्राचित्रों में 'व' वर्ण वरुण का बोधक होता है; और उसमें उपर्युक्त 'अन' और 'अप' दोनों का संयोग[2] अभीष्ट है। वैदिक संस्कृत में 'अप' का अर्थ जल भी होता है, अतः वरुण का सम्बन्ध जल से भी माना जाता है। यहाँ वन-रूप वरुण का शत्रु बन कर जो व्याघ्र[3] उपस्थित है वह वस्तुतः वृत्र है जिसे वैदिक साहित्य में जल (आपः) को आवृत करने वाला कहा जाता है। उसके विपरीत एक अन्य मुद्राचित्र[4] में 'वन' को अ-वर्णरूपी दो पत्तियों को तोड़ कर एक को मुंह में दबाये और एक को पृथ्वी पर गिराये हुये जो पशु दिखाया गया है उसके ऊपर 'वृत्र वषट्' लिखा हुआ है। इसका अभिप्राय है कि यह ऐसा 'वृत्र' है जो 'वषट्' बन चुका है और वषट् का अर्थ है (जैसा कि आगे देखेंगे) कि जो छः देव वृत्र के आधिपत्य में थे वे अब वरुण के आधिपत्य में आने से 'वषट्' कहे जाते हैं। इसी कल्पना को एक दूसरे ढंग से एक अन्य मुद्राचित्र[5] में मूर्तिमान् किया गया है। यहाँ पर एक वृक्ष के ऊपर एक स्त्री-पुरुष के जोड़े की धूमिल आकृतियाँ हैं और नीचे एक ओर एक व्याघ्र है तथा दूसरी ओर एक सर्प है एवं इन दोनों वृत्रों[6] के बीच में उपर्युक्त दो पृथक् उकार, एक संयुक्त उकारसहित दंड तथा एक पृथक् दंडाकार अ-वर्ण है। इसी चित्र के दूसरी ओर तीन पशु हैं जो क्रमशः

---

(१) वही, ३,१-१२ ; ४,१-३।

(२) तु. क० M.F. E. M., Plate CI, seal 15 जिसके एक भाग में एक ओर 'मन' और 'व (वरुण) अप' लिखा है तथा इन दोनों के बीच में मानव-हृदय की आकृति है; दूसरे भाग में एक ओर हृदय की आकृति है और दूसरी ओर एक चतुर्भुज के भीतर चतुर्दिक् अनेक स्थानों पर 'अन' लिखा है एवं बीच में वरुण-सूचक व-वर्ण के साथ 'अत्रि' लिखा है।

(३) द्रष्टव्य Plate CX, 23-b; 24-b; 13-a; plate XCVI, seal 522 etc.

(४) M. I. C. Plate CXII, seal 385 (आ० ७)

(५) M.F.E M., Plate XC, 13-a and 13-b (आ० २)

(६) इन दोनों में से प्रत्येक द्विविध होता हुआ माना गया है। इसीलिये, अन्य कई मुद्राचित्रों में दो व्याघ्र अथवा दो सर्प दिखाई पड़ते हैं।

गेंडा, हाथी और अश्व प्रतीत होते हैं। इन दोनों चित्रों में दंडाकार अ-वर्ण के पास जो उकार-युक्त तीन आकृतियाँ दिखाई गई हैं वे निस्संदेह उपर्युक्त वही तीन पुरुष हैं जिन्हें वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय (अथवा अग्नि, वायु-आदित्य और (इन्द्र) कहा गया है और जो अवर्णरूपी तुरीय-ब्रह्म से उद्भूत हैं; इसके साथ ही वृक्ष पर स्थित स्त्री-पुरुष उसी 'वनं' या वरुण के प्रतीक प्रतीत होते हैं जिसको ऊपर 'अन' तथा 'अप' का संयुक्त रूप बताया गया है। यहां पर सभी पशु (हिंसक भी) अहिंसा के वातावरण को उपस्थित करते हुये वृत्र-प्रधान न होकर वरुण-प्रधान प्रतीत होने से वषट्' की स्थिति में उपर्युक्त अवर्णाकार पत्तियाँ खाने वाले पशु की तरह ही प्रतीत होते हैं।

वरुण और वृत्र

सिंधुघाटी के वरुण और वृत्र का उक्त संबन्ध ब्राह्मण-ग्रंथों की मान्यता के प्रतिकूल नहीं है। वरुण[1] और वृत्र[2] एक ही धातु से बने हुये दो शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक का अर्थ है 'आवृत करने वाला'; ये दोनों वस्तुतः एक ही 'परा'-शक्ति के दो रूपांतर हैं जिनमें से एक को प्रकाशमय आवरण तथा दूसरे को अंधकारमय आवरण कहा जा सकता है। अतः वरुण को उषा-रूपी तीर के पंख (पर्णानि) कहा गया है (ऐ०ब्रा० १,२५), और वृत्र को अंजन (श० ३, १,३, १५); एक प्रदीप्ततर[3] अथवा घोरसंस्पर्श[4] अग्नि है, तो दूसरा पत्थर (अश्मानः[5]) विश्वसृष्टि के लिये वरुण जितना उपयोगी है, उतना ही वृत्र भी; इसीलिये इन्द्र उसका वध कर के भी उसे सौम्य और असुर्य्य-रूपों में जीवित रख कर उसका उपयोग करता[6] है। वरुण यदि प्रदीप्ततर अग्नि के रूप में बाहर प्रकाश और गर्मी देता है, तो वृत्र[7] भी जठराग्नि के रूप में विराजमान हमारे खाये हुये

---

(१) यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत्तं वा एत वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण (गो०पू० १, ७)

(२) वृत्रोऽवा इदं सर्वं वृत्वा शिश्ये...तस्माद् वृत्रो नाम (श०१,१,३,४)

(३) अथ यत्र तत्प्रदीप्ततरो भवति तर्हि हैष भवति वरुणः (श०२,३,२,१०)

(४) स यदग्निर्घोरसंस्पर्शस्तदस्य वारुणं रूपम् (ऐ०३,४)

(५) श०३,४,३,१३;३,९,४,२;४.२,५, १५।

(६) तं द्वेधान्वभिनत्तस्य यत्सौम्यं न्यक्तमास तं चन्द्रमसं चकाराथ यदस्यासुर्य्यमास तेनेमा प्रजा उदरेणाविध्यत (श. १, ६,३,१७)

(७) यदिमाः प्रजा अशनमिच्छन्तेऽस्माऽ एवैतद वृत्रायोदराय बलिं हरन्ति (श. १,६,३,१७)

भोजन को हजम करता है। अतः अन्नाद अग्नि वस्तुतः वृत्र[१] ही है और वही है सोम जो देवों का अन्न कहा जाता है[२]। अतः ब्राह्मण-ग्रंथों में 'वृत्र' देवों का शाश्वत शत्रु नहीं है; वह जब देवों के प्रति विद्रोही होकर 'आपः' और प्रकाश को सर्वथा आवृत करके उनके अस्तित्व को ही खतरे में डाल देता है, तभी वध्य होता है; परन्तु उसके वध से अभिप्राय केवल उसके रूपान्तरण करने—शत्रु से दास अथवा उपयोगी साधन बनाने से है। इसलिये वृत्रवध ध्वंसात्मक क्रिया न होकर सर्जनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा इन्द्र विश्वकर्मा प्रजापति कहलाने का अधिकारी होता है:—

इन्द्रो ह वै वृत्रं हत्वा विश्वकर्माऽभवत्प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्माऽभवत् (ऐ०ब्रा०४,२२)

अतः वृत्रवध वस्तुतः वृत्र-सहयोग है जिसमें वृत्र-विरोध छोड़कर उपयोगी दास अथवा सृजनात्मक शक्ति में परिणत हो जाता है। यही माया[३], मात्रा, मातली है जिसकी 'मा' धातु-निर्माण की सूचक होकर सिंधुघाटी में ऐसे वृत्र-प्रतीकों के साथ प्रयुक्त होती है जो देवोपयोगी भाव व्यक्त करते हैं। उदाहरण के लिए, जो महिष अन्य स्थानों पर विध्वंस करता हुआ[४] अथवा स्वयं भाले का शिकार होता हुआ[५] दिखाया गया है, कहीं-कहीं उसी[६] के सामने एक पात्र सा रक्खा हुआ है और वह सर्वथा शान्त प्रतीत होता है तथा उसके ऊपर जो लेख है उसमें अंतिम शब्द 'मा' (अर्थात् निर्माण करने वाला) है। निर्माण अथवा सृजन का कार्य यज्ञ है; उसमें यदि वृत्र भी योग देता है तो सिन्धुघाटी-परम्परा में उसकी[७] संज्ञा 'वृत्र जश्न' अथवा 'वृत्र वषट्' हो जाती[८] है। इसके विपरीत, वरुण-क्षेत्रीय (देवत्वप्रधान) प्रतीक भी यज्ञ-विरोधी भावना का समावेश करने पर ओंकार अथवा यज्ञ के शत्रु समझे जाते हैं। उदाहरणस्वरूप मोहेन-

(१) स यो हैवमेतं वृत्रमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति (श. १, ६, ३, १७)
(२) वृत्रो वै सोम आसीत् (श. ३. ४, ३, १३; ३, ६, ४, २; ४, २, ५, १५)
(३) द्रष्टव्य—डा० फतहसिंहकृत वैदिक दर्शन (लीडर प्रेस प्रयाग) पृ० १५५।
(४) द्रष्टव्य—आ० ४५।
(५) द्रष्टव्य—आ० ४८।
(६) द्रष्टव्य—आ० ४६।
(७) M.I.C. Pl. CX, 279.
(८) आ० ७।

जो-दरो से प्राप्त एक ताम्रमुद्रा[१] को ले सकते हैं जिसमें एक मेष से एक 'ऊ' बाहर निकल कर भागता हुआ दिखाया गया है और दूसरा उकार (ह्रस्व) उस मेष के शिर के ऊपर कुछ अलग सा प्रतीत होता है; इस मुद्रा पर लिखे हुए वृत्र-शब्द के साथ तीनों प्रकार के अकारों द्वारा 'अन' शब्द तीन बार लिखा गया प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय है कि यह मेष मानव-व्यक्तित्व की उस स्थिति का प्रतीक है जिसमें वह तीन अकारों द्वारा अभिप्रेत तीनों स्तरों पर वृत्रत्व स्वीकार कर चुका है। इसी प्रकार अन्यत्र 'वृत्रप्राण अ'[२] तथा 'वृत्र-पंचमना उष्ट्रमान'[३] शीर्षक वाले ताम्र-मुद्राचित्रों का विषय भी वृत्र-प्रधान प्रतीत होता है।

दक्षिणावर्त और वामावर्त

वरुणत्व और वृत्रत्व की प्रधानता को व्यक्त करने के लिये, सिंधुघाटी के पशुप्रतीकों का मुख क्रमशः दक्षिणावर्त तथा वामावर्त[४] कर दिया जाता है। इस नियम का पालन यहाँ तक किया गया है कि जिस चित्र में वृत्रत्वप्रधान प्रतीक को आवश्यकतावश दाहिनी ओर जाता हुआ दिखाया जाता है, उसमें भी उसका मुख अवश्य ही बाईं ओर मोड़ दिया जाता है। इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उन मुद्राचित्रों में प्राप्त होते हैं जिनमें वृत्रप्रतीक चीता[५] शरीररूपी-वृक्ष के अधिष्ठाता पुरुष के साथ चित्रित किया जाता है। यह चीता शरीररूपी वृक्ष से अन (प्राण) और अन्न की चोरी करने का प्रयत्न करता है और उसका अधिष्ठाता आत्मा 'अन' और 'अन्न' की रक्षा करता है; इस प्रसंग में एक लेख (अनान्नस्तेन नमति[६]) के अनुसार चीते को झुकना पड़ता है और संभवतः उसके झुकने पर, एक अन्य लेख के अनुसार संभवतः उसका 'वृत्रअन्न' तथा 'वृत्रमन' सब बाहर निकाला जाता[७] है और अन्ततोगत्वा वह पराशक्ति के सूचक प-वर्ण के पास आकर पूर्णतया दक्षिणावर्त होकर शान्त[८] हो जाता है। इसी प्रकार

(१) M.I.C. Pl. CXVII, 2.
(२) M.I C. Pl. CXVII, 1.
(३) वही Pl. CXVII, 3.
(४) M I C. Pl. CXVII, 1-3; Pl. CX, 304.
(५) M.I.C., Pl. CXI. Pl. CXI, 341; 353; 355; 357; Pl. CXI, 352.
(६) M.I.C. Plate CXI, 357.
(७) M.I.C. Pl. CXI, 355 जहाँ वृक्ष पर बैठा हुआ एक पुरुष है और उसकी ओर मुख किये हुये शान्त चीते के सिर पर 'वृत्र अन्न मन' शब्द लिखे हुये हैं।
(८) M F.E.M, Pl. XCVI, 518.

वृत्रत्व का एक अन्य प्रतीक महिष है जो अपने वामावर्त[1] रूप में नरसंहार करता है, परन्तु दक्षिणावर्त रूप में शान्त दिखाई पड़ता है और उसके सामने एक वरुणसूचक वकार की आकृति का पात्र होता है जिसे 'वरुणपात्र' कह सकते हैं।

स्वस्तिकद्वय तथा क्रॉस

वरुणत्व और वृत्रत्व की कल्पना का एक दूसरा रूप सिंधुघाटी में प्राप्त स्वस्तिक के क्रमशः दक्षिणावर्त तथा वामावर्त रूपों में देखा जा सकता है। मोहेनजोदरो और हड़प्पा में दोनों प्रकार के स्वस्तिकों के चित्र अनेक मुद्राओं[2] पर पृथक्-पृथक् मिले हैं। हड़प्पा से प्राप्त एक मुद्रा पर इकट्ठे ४ वामावर्त[3] तथा दूसरी पर ५ दक्षिणावर्त[4] स्वस्तिक हैं। ५ दक्षिणावर्त स्वस्तिकों के साथ 'वृत्र अनान्न अ-वर्णत्रय' (खरबूजाकार) लिखा है और साथ में एक वामावर्त चीते को प-वर्ण भेंट करता हुआ एक पुरुष बना है जिससे संकेत मिलता है कि अन और अन्न तथा अ-वर्णत्रय द्वारा अभिप्रेत शरीरत्रय में व्याप्त पंचविध (वामावर्त चीतारूपी) वृत्र को, प-वर्ण द्वारा, पाँच दक्षिणावर्त स्वस्तिकों के रूप में वरुणत्व की ओर मोड़ा जा रहा है, क्योंकि वामावर्त स्वस्तिक वृत्रत्व की ओर मुड़ने का सूचक है। परन्तु प्रश्न उठता है कि वह कौनसा केन्द्र है जिससे बायें या दाहिने मुड़ने की बात यहाँ अभीष्ट है।

इसका उत्तर सिंधुघाटी के क्रॉस में निहित है जिसकी अनेक मुद्रायें, मोहेन-जोदरो तथा हड़प्पा दोनों स्थानों पर मिली हैं। कुछ विद्वानों[5] का मत है कि क्रॉस का चिन्ह सिंधुघाटी में बाहर से आया, क्योंकि वह इतनी अधिकता से नहीं मिला जितना कि स्वस्तिक। परन्तु कुछ भी हो, क्रॉस को वामावर्त अथवा दक्षिणावर्त करने से ही स्वस्तिकद्वय का निर्माण होता है और ऊपर वरुणत्व एवं वृत्रत्व के प्रसंग में सिंधुघाटी के प्रतीकों में दक्षिणावर्त एवं वामावर्त होने की जो स्पष्ट सामान्य परंपरा दिखाई पड़ती है, उसको देखते हुये यह मानना अधिक संगत प्रतीत होता है कि क्रॉस मानव-व्यक्तित्व की उस केन्द्रस्थ स्थिति

(१) MFEM; Pl. XCVI, 510.

(२) द्रष्टव्य M.I.C, Pl. CXIV, 500-515; MEH. Pl. XCV, 396-399; 392.

(३) MEH. Pl. XCII, 278.

(४) MEH. Pl. XCIII, 306.

(५) Further Exavations at Mohanjodaro by Mackey, p. 656,

का द्योतक है जिससे वामावर्त होकर वृत्रत्व के अंधकार की ओर जाया जा सकता है और दक्षिणावर्त हो कर वरुणत्व के प्रकाश की ओर भी। दक्षिणावर्त स्वस्तिक वरुण का प्रतीक है और वामावर्त वृत्र का, परन्तु दोनों के बीच में कौन (कः) है ? इसका उत्तर है—क्रॉस जो सिंधुघाटी का क-वर्ण भी है और जिसका अर्थ होता है 'कौन' अथवा 'क्या'।

क्रॉस और मन

सिंधुघाटी का क्रॉस[१] कभी-कभी मन के मकार से घिरा हुआ होता है और उस मकार के भीतर चारों कोनों पर चार नकार बने हुये होते हैं। इसका अभिप्राय है कि मानव-व्यक्तित्व की जो केन्द्रीय स्थिति क्रॉस द्वारा व्यक्त की जाती है उसको चारों ओर से मन घेरे हुये है जिसकी चतुर्विध गति को प्रकट करने के लिये अन्यत्र[२] मकार के भीतर चार रेखाचतुष्टयात्मक पट्टियाँ रहती हैं। इन पट्टियों में से, दो तो आड़ी रेखाओं की पट्टियाँ हैं जो क्रमशः अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी प्रवृत्ति की द्योतक प्रतीत होती हैं और दो पड़ी रेखाओं की पट्टियाँ हैं जिन्हें क्रमशः वरुणत्व और वृत्रत्व को दक्षिणावर्त तथा वामावर्त प्रवृत्ति को वतलाती हुई माना जा सकता है। इस प्रकार चार रेखा-पट्टियों द्वारा मन की जिन द्विविध प्रवृत्तियों को व्यक्त किया जाता है वही ऋग्वेद[३] में संभवतः मनरूपी गाड़ी (अनोमनस्मयं) के चक्र कहे गये हैं और उपनिषद्[४] में क्रमशः दैव और मानुष-वित्त के नाम से जाने जाते हैं। मानव-मन जब इन द्विविध प्रवृत्तियों से भी मुक्त होजाता है, तो उसको शुद्ध क्रॉस अथवा उड़ते हुये श्येन के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता है। अतः एक मुद्राचित्र[५] के एक ओर क्रॉस बना हुआ दिखाया गया है और दूसरी ओर उड़ता हुआ श्येन। इसी स्थिति का सुन्दर चित्र हड़प्पा[६] से प्राप्त एक मुद्रा में है जहाँ यूप के सान्निध्य में खड़े एक व्यक्ति के शिर पर उड़ता हुआ श्येन है और उसका शीर्षक है 'अपंच वृत्र यस्न' जिसका

(१) MEH. Pl. XCV, 390, (देखिये विशिष्ट प्रतीक सं० १)
(२) MEH. Pl. XCV, 389 (देखिये विशिष्ट प्रतीक सं० २)
(३) अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् (ऋ० १०,८५)
(४) वृ० उ० १, ४, १७, १५, १-३।
(५) देखिये विशिष्ट प्रतीक सं० ३ (MEH, Pl. XCI, 255)
(६) MEH. Pl. XCIII, 318.

अर्थ है कि ऐसा यज्ञ जहाँ श्येन वृत्र के पांचों बंधनों से मुक्त हो चुका है। इसी स्थिति को व्यक्त करने के लिये, मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्रा[1] पर एक योगी के शिर:स्थित वषट् पर आरूढ प्रणव दिखलाया गया है और एक श्येन को उड़ता हुआ बताया गया है।

मानव-व्यक्तित्व में मन का परिवेष्टन

क्रॉस के चारों ओर जो मन का परिवेष्टन दिखाया जाता है, मानव-व्यक्तित्व में वस्तुत: उसके ऊपर भी और परिवेष्टन होते हैं। इसका सर्वोत्तम उदाहरण विशिष्ट प्रतीक सं० ४ में देखा जा सकता है। यह प्रतीक कई शब्दों से बना हुआ समष्टिवर्ण है जिसमें ऊपर वकार-रहित 'वृत्र' और उसके नीचे द्विविध 'मन' तथा उसके नीचे 'अन' लिखा है; 'अन' के दोनों ओर 'अप' शब्द 'मन' के द्विविध मकार से जुड़ा हुआ प्रकट करता है कि एक 'अप' केवल बौद्धिक है और दूसरा शारीरिक। इसी प्रकार वकाररहित वृत्र (अर्थात् ऋत्र) संभवत: वृत्र के ऋतमय रूप की ओर संकेत करता है। अत: यह समष्टिवर्ण प्रतीक मानव व्यक्तित्व के उस व्यावहारिक रूप का द्योतक है जिसमें वृत्र अपने विरोधी वृत्रत्व को छोड़कर सहयोगी ऋतवान् रूप धारण करके द्विविध 'अप' (कर्म) उभयात्मक 'मन' तथा 'अन' का सेवक होकर रहता है। इसके विपरीत ऐसे भी प्रतीक[2] हैं जिनमें वृत्र इतना बढ़ जाता है कि मन सर्वथा लुप्त (वृत्र द्वारा कवलित) हो जाता है और पूर्व-प्रतीक के द्विविध 'अप' को 'पाप' शब्द में परिणत कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समूचे प्रतीक द्वारा 'वृत्रपापन्' शब्द बन जाता है। एक अन्य[3] प्रतीक में, प्राण-सूचक 'अन' शब्द भी नहीं रहता और केवल 'ऋत्रपाप' अवशिष्ट रह जाता है और अन्यत्र मानव-व्यक्तित्व के अन, अग्नि आदि सभी अन्नभूत[4] हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उसका प्रतीक शिर-रहित बनाया जाता है। इस अवस्था में मानव-व्यक्तित्व को 'वृत्रमख' माना जाता है जिसका सुन्दर चित्रण एक ताम्रमुद्रा[5] में प्राप्त है। इसमें एक ऐसे शिर-विहीन पशु का चित्र है जिसके पैर हाथी के हैं और रिक्त उदर-

(१) देखिये आ० ५३।
(२) देखिए विशिष्ट प्रतीक संख्या ५ (MEH, Pl. XCII, 273, 282, 276)
(३) MEH, Plate XCII 284.
(४) MIC, Plate CXVII, 9.
(५) MIC, Plate CXVII 7.

भाग में एक हृदयाकार वस्तु नौ वड़े-बड़े विन्दुओं से घिरी है तथा शरीर के अगले और पिछले भाग में भी ऐसे ही बिन्दु बने हुए हैं। पशु के सामने रक्खा हुआ वरुण-पात्र लगभग मकार-तुल्य हो गया जिसमें वने हुए 'ख' (छिद्र) उसे 'मख' में परिणत कर रहे हैं। पशु के नीचे स्पष्टत: 'वृत्र मख' लिखा है और पास में त्रिभुजाकार[१] आकृति के भीतर छ: लकीरें खींच कर अनान्न और मन को सप्तधा विभक्त वताया गया है।

वृत्रवरुण मानव

इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व अप, अन, अन्न और मन का संघात है जो वृत्र और वरुण-नामक दो छोरों के बीच उत्थान-पतन करता रहता है। वृत्र का प्रभाव जितना ही अधिक बढ़ता है, उतना ही प्रतीक पशु[२] का शिरोभाग और वरुण-पात्र क्षीण होते जाते हैं और सींगों में अधिकाधिक वक्रताएं आती जाती हैं। वृत्रत्व का सर्वाधिक प्रभाव दिखाने के लिए मोहेंनजोदरो में एक ऐसे वामावर्त पशु[३] की कल्पना की गई है जिसका पिछला घड़ और पैर तो अश्व या गाय जैसे हैं, परन्तु अग्र भाग दो वक्र सींगों से युक्त मुर्गे जैसा है और उसकी सारी गर्दन पर से ही जैसे कांटे दिखाए गए हैं। इस चित्र के ऊपर पराशक्तिसूचक पकार को पंचधा विभक्त करके एक अ-वर्ण के ऊपर स्थित करके मानव-व्यक्तित्व के विक्षेपाधिक्य की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। इससे कम वृत्रत्व और विक्षेप रखने वाले व्यक्तित्व को बताने के लिए इसी पशुप्रतीक का एक दूसरा[४] रूप भी मिलता है जिसमें पशु का मुख फिर भी दक्षिणावर्त है, सींग छोटे और कम वक्रता वाले हैं और गर्दन के कांटे छोटे-छोटे तथा ऊपर बना हुआ पकार अभी केवल दो ही भागों में विभक्त है। इसकी तुलना एक अन्य ताम्रमुद्रा[५] पर अंकित पुरुषाकृति से की जा सकती है

(१) देखिए लिपिद्वय-पटल।

(२) देखिए MIC, Pl. CXVII 8 और 12 जहाँ ताम्रमुद्राओं पर 'वृत्रवरुण मख' लिखा है और साथ में 'अनान्नमन' के सप्तविध विभाजन को वतलाने वाले चिन्ह भी हैं। तुलना कीजिए MIC, Pl. CXVIII, 4 तथा XCIII, seal 9, वहाँ भी ऐसा ही लेख और प्रतीक प्राप्त हैं।

(३) MFE, Pl. XCIX, 673 तुलना करो वही 670 जहाँ शिरविहीन वामावर्त पशु अत्यधिक वक्रता वाले सींगों से युक्त दिखाया गया है।

(४) MFE, Pl. C. seal D.

(५) MFE Pl. XCIII seal 14.

जिसके शिर पर वरुणसूचक वकार, दाहिने हाथ में वृत्र-चिह्न तथा बाएं हाथ में द्विधा विभक्त पकार और पीछे की ओर शिर तथा कटिप्रदेश में ईषद्वक्र दो दण्डाकार अ-वर्ण सम्भवतः अन और अन्न पर वृत्रत्व के प्रभाव को व्यक्त कर रहे हैं। चित्र के नीचे लिखा है 'वृत्रप ईस अ-वर्ण—अवर्णजय यस' इससे प्रकट है कि यह चित्र ऐसे मानव-व्यक्तित्व का प्रतीक है जिसमें वृत्रप (वृत्र की पापप्रवृत्ति) पर मानवात्मा अपना नियंत्रण रक्खे हुए है। एक दूसरी मुद्रा[1] में एक दाहिनी ओर को झुका हुआ मनुष्य है जिसके दाहिने हाथ में धनुष, बायें में 'अन', पगड़ी में 'यज्ज्न' (यज्ञ ?) तथा उसके ऊपर सम्भवतः ब्रह्म-सूचक उकार लिख कर उपनिषद्[2] के उस साधक का चित्र उपस्थित किया गया है जो प्रणवरूपी धनुष पर आत्मारूपी शर का संधान करके ब्रह्म को लक्ष्य बनाता है। इस अवस्था में वृत्रत्वशून्य होकर 'अन तथा अन्न' पूर्णतया वरुणत्व को प्राप्त कर लेते हैं।

मानव-व्यक्तित्व के तीन पक्ष

सिंधुघाटी की परम्परा में, एक दृष्टि से मानव व्यक्तित्व के तीन पक्ष मानते हुए, उसे 'अवर्णत्रय अनान्नद्वय म' कहा गया[3] है। यहां पर तीन स्थूल (खरबूजाकार) अवर्णत्रय क्रमशः अन्नमय, मनोमय तथा प्राणमय पुरुष प्रतीत होते हैं जो निस्सन्देह अन (प्राण), अन्न और मन (म) के संयोग से निर्मित हैं। इस बात की पुष्टि उक्त लेख से सम्बद्ध मुद्राचित्र[4] से भी होती है। चित्र में तीन पुरुषों को हाथ में क्रमशः निम्नलिखित प्रतीकों के दंड पकड़े दिखाया गया है—

(१) अन्नादान्न और त्रिशिरा प्रतीक
(२) सप्ति-वत्स प्रतीक
(३) वषट्पताका प्रतीक

इनमें से प्रथम प्रतीक में एक त्रिशूल के ऊपर सप्तछिद्रा टोकरी-सी रक्खी हुई है। इसकी तुलना उस वामावर्त त्रिशिरा चित्र[5] से कर सकते हैं जिस पर त्रिशूल

---

(१) MIC. Pl. CXVII, seal 16.
(२) मुं०उ०—प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
(३) द्रष्टव्य—MIC. Pl. CXVIII, seal 9 का लेख।
(४) वही।
(५) MIC., Pl. CXII, seal 382.

के ऊपर 'सप्त' संख्या लिखी है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वामावर्त चित्र वृत्रत्व के सूचक हैं ; अतः इस त्रिशिरा को ब्राह्मणग्रंथों में वर्णित उस त्रिशिरा विश्वरूप[1] की प्रतिच्छाया माना जा सकता है जो त्वष्टा का पुत्र है और अपने तीन मुखों से क्रमशः सोम, सुरा तथा अशन का सेवन करता है। इसके विपरीत सिंधुघाटी-परम्परा में एक दक्षिणावर्त[2] त्रिशिरा की भी कल्पना है जो पहली से इस बात में भी भिन्न है कि यहाँ तीन मुखों में से बीच वाला मुख एकशृंगी पशु का है, जब कि पहले में सभी मुख द्विशृंगी पशुओं के हैं। दक्षिणावर्त त्रिशिरा के एक अन्य चित्र[3] के ऊपर कोष्ठक में एक पक्षी बना है और साथ में 'अग्नि-अन-द्वय', 'सप्तान्न-मन-द्वय' तथा 'दमनाग्निद्वय' शीर्षक क्रमशः तीन शिरों के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वहाँ पक्षीरूपी आत्मा शरीर-रूपी कोष्ठक में बैठा हुआ, दक्षिणावर्त त्रिशिरा के प्रतीक में केवल भोक्ता ही (सप्तान्नमन) नहीं, अपितु उसके साथ में दमनाग्नि आदि का भी समावेश है।

अत एव अन्नाद-अन्न-प्रतीक दो प्रकार का बनता है—एक तो वामावर्त त्रिशिरा के अनुरूप जिसमें दण्डारूढ त्रिशूल रहता[4] है और दूसरा दक्षिणावर्त त्रिशिरा के अनुरूप जिसमें दण्डारुढ त्रिकोण अथवा प्याला सा रहता[5] है। इस प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह है कि दण्डारूढ त्रिशूल, हो अथवा त्रिकोण, दोनों के द्वारा 'अत्रि' शब्द बनता है जिसका अर्थ ब्राह्मणग्रंथों[6] के अनुसार अन्न खाने वाला है। यह अत्रि स्वयं वाक्[7] है; अतः 'अत्रि' कहा जाने वाला 'अन्नमय' पुरुष वस्तुतः वाङ्मय अग्नि[8] अथवा प्राण[9] है। यह अत्रि का देवरूप है, परन्तु इसके विपरीत एक राक्षसरूप अत्रि की भी कल्पना थी और तदनुसार 'अत्रिणः'[10] शब्द का अर्थ राक्षस अथवा पापी किया जाता था। अत्रि की इस

(१) तस्य सोमपानमेवैकं मुखमास। सुरापाणमेकमन्यस्मा अशनायैकं। तमिन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद (श० १,६,३,२)।
(२) MFEM., Pl. XCIX, seal B. XCVI, 494.
(३) MFEM., Pl. LXXXIII, seal 24.
(४) MIC., Pl. CVIII, 149; 167; CX; 273; CIX, 221.
(५) MIC., Pl. CIX, 229–243.
(६) वागेवात्रिः वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति (श० १४,५,२,२)।
(७) वागेवात्रिः (श० १४,५,२,२)।
(८) स वै यः सोऽत्ताग्निरेव स (श० १०,६,२,२)।
(९) प्राणो वाऽत्ता तस्यान्नमेवाहितयः (श० १०,६ २,४)।
(१०) अत्रिणो वै रक्षांसि (ष० ब्रा० ३,१) पाप्मानोऽत्रिणः (ष०ब्रा० ३,१); रक्षांसि वै पाप्मात्रिणः (ऐ० ब्रा० २,२)।

द्विविध कल्पना के आधार पर, सिन्धुघाटी के उक्त द्विविध त्रिशिरा को समझना सरल हो जाता है। मानव-व्यक्तित्व स्थूल (अन्न) दृष्टि से वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय रूप में त्रिविध होता हुआ भी वस्तुतः एक है, अतः अत्रि (तीन नहीं) कहलाता है, परन्तु इस अवस्था में वह अन्न का अत्ता[1] या अन्नाद[2] भी है; अतः 'अत्रि' शब्द को 'अद्' धातु से निष्पन्न मानकर उसमें अत्ता[3] या अन्नाद के श्लिष्टार्थ की भी कल्पना कर ली गई। देवरूप में यह अत्रि त्रिशिरा एक ऐसा समवेत पशु है जिसमें सिंधुघाटी-परम्परा के अनुसार अग्नि-अनद्वय, सप्तान्नमनद्वय तथा दमनाग्निद्वय का समावेश माना जाता है और ऋग्वेद[4] में इसी को 'त्रिमूर्धा' सप्तरश्मि' अग्नि कहा जाता है। राक्षसरूप में वह त्रिशीर्षा 'सप्तरश्मि' अथवा 'षडक्षत्रिशीर्षा दास' कहलाता है जिसे इंद्रप्रेरित त्रित आप्त्य[5] मारता है। यही ब्राह्मणग्रंथों का त्रिशिरा विश्वरूप है जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

अस्तु, सिन्धुघाटी और वैदिक साहित्य में समान रूप से त्रिशिरा के साथ सात की संख्या जुड़ी हुई है और यही उक्त 'अन्नादान्न' प्रतीक में स्थित टोकरी के सप्त छिद्रों में देखी जा सकती है। उपनिषदों और ब्राह्मणों में अन्नों की भी संख्या सात है; अतः उक्त अत्रि-शब्द के सात की संख्या[6] से सात अन्न ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं और इन्हीं के सन्दर्भ में ऋग्वेद में त्रिशिरा को सप्तरश्मि कहा गया होगा। यह अन्न राक्षसों के लिए विरूप अथवा नानारूप ही बना रहता है (तां० १४,९,८) परन्तु देव लोग अन्नों की इस अनेकता में एकता को ढूंढते हुए वैश्वदेव (तै० १, ६, १, १०) अथवा आत्मसम्मित अन्न (श० ७, ५, १, १४) को भी प्राप्त कर लेते हैं जो सर्वथा रक्षा करता है, हिंसा नहीं। सम्भवतः इसी बात को प्रकट करने के लिए दक्षिणावर्त (देवरूप) त्रिशिरा में एकशिर एकश्रृंगी पशु का भी रहता है और अन्यत्र जहाँ भी एकश्रृंगी पशु का चित्र होता है उसके आगे प्रायः 'अन्नादान्न' चिन्ह रहता है।

---

(१) अत्तिर्हि वै नामैतद् यदत्रिरिति (श० १४,५,२,२; १०,६,२,४)।
(२) श० २,१,४,२८; २,२,४,१।
(३) श० १४,५,२,२; १०,६,२,२; १०,६,२,४।
(४) ऋ० १,१४६,१।
(५) ऋ० १०,८,८; ९९,६।
(६) सप्त वा अन्नानि (तै० १,३,८,१)।

२. सप्तिवत्स प्रतीक—इस प्रतीक में त्रिदण्डात्मक स्टैंड के ऊपर एक वत्स उस पशु का प्रतीत होता है जो अन्यत्र मोहेनजोदरो में एकशृंगी पशु के रूप में पाया जाता है ; वत्स के चार पैरों और स्टैंड के तीन दण्डों को मिलाकर सप्त-संख्या बनती है, अतः इस प्रतीक को सप्ति कहा गया है। एक अन्य[१] मुद्रा पर इसी पशु के साथ 'वायु' लिखा मिलता है और ब्राह्मणग्रंथों में वायु को वत्स[२] तथा सप्ति[३] कहा जाता है। शतपथब्राह्मण[४] के अनुसार मन ही वायु हो जाता है और मन ही वत्स (श० ११, ३, १, १) है। अतः इसको मनोमय पुरुष कह सकते हैं जिसे सिन्धुघाटी में वायुमुख अथवा यज्ञ कहा गया है। (MIC. CXVIII, 12 b, MFEM. Cl. 12-a)

३. वषट्केतु—तीसरे पुरुष के हाथ में एक सदण्ड पताका है जिसे वषट्केतु कह सकते हैं, क्योंकि पताका वकाराश्रिता तथा षट्छिद्रवाली है। शतपथ-ब्राह्मण[५] के अनुसार वाक् ही वषट्कार है, क्योंकि वाक् रेतस है जिसे संवत्सर प्रजापति षट् ऋतुओं में सिञ्चन करके प्रजाओं को जन्म देता है यही वषट्कार है। सम्भवतः इस प्रतीक के पुरुष का संवत्सर नाम संवत्स पर आश्रित है क्योंकि इसके अन्तर्गत उपर्युक्त वत्स (अथवा कुमार[६]) का समावेश माना जाता था। यह संवत्सर ही पितृमान्[७] सोम है जिसके लिए (उक्त वषट् के सन्दर्भ में) षट्कपाल पुराडोश का विधान सार्थक है। मानव-व्यक्तित्व के इस पक्ष को सिन्धुघाटी[८] में 'इंदु वृत्र मख' कहा गया है जिसका प्रतीक वरुणपात्र से युक्त दक्षिणावर्त सिंह या व्याघ्र प्रतीत होता है। इंद्र का अर्थ सोम है और ब्राह्मण-ग्रंथों में भी वृत्र को (श० ३, ४, ३, १३; ३, ९, ४, १; ४, २, ५, १५)

---

(१) MIC., CXVIII, 12—b.

(२) अयमेव वत्सो योऽयं (वायुः) पवते (श० १२, ४, १, ११)

(३) वायुः सप्तिः (तै० १, ३, ६, ४)

(४) मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ (श० ८, १, १, ७)

(५) वाग्वै वषट्कारो वाग्रेतो रेत एवैतत्सिञ्चति षडित्यृतवो वै षट् तदृतुषु एवैतद् रेतः सिच्यते तदृतवो इमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्मादेवं वषट् करोति।
(श० ब्रा० १, ७, २, २१)

(६) संवत्सरऽएव कुमारो व्याजिहीर्षति (श० ११, १, ६, ३) संवत्सरवेलायां प्रजाः वाचं प्रवदन्ति (श० ७, ४, २, ३८)

(७) तै० १, ६, ८, २; १, ६, ९, ५; श० २, ६, १, ४)

(८) MFEM. Pl. Cl, 12-c; MIC. Pl. CXVIII, 12-a

और सोम को 'सवृत'[1] (वृत्रसहित ?) कहा गया है। इन्द्र वृत्र के दो टुकड़े करता है जिनमें से एक तो सोम कहलाता है और दूसरा जठराग्नि। अतः मानव-व्यक्तित्व के इस पक्ष को इन्द्र अथवा प्राणमय पुरुष कहा जा सकता है। यही वषट्केतु सिन्धुघाटी में देवों अथवा देवोपम व्यक्तियों के शिर पर लटकती दिखाई जाती है।

द्विश्रृंगी पशु और पुरुष

उक्त तीनों पुरुषों के पशु-प्रतीकों में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय से सम्बद्ध पशुओं में क्रमश. द्विश्रृगी, एकश्रृंगी और अश्रृंगी पशु पाया जाता है। यद्यपि उक्त स्थानों पर इस भेद के अतिरिक्त तीनों पशुओं के अन्य आकार-प्रकार भी भिन्न हैं, परन्तु संभवतः ये तीनों पशु एक ही के रूपांतर माने जाते थे। सिंधुघाटी में जो सर्वाधिक लोकप्रिय पशु है वह प्रायः एकश्रृंगी रूप में मिलता है और उसके सामने वही 'अन्नादान्न' प्रतीक रक्खा मिलता है जिसको मार्शल ने धूपदान कहा है। इसी पशु को एकाध स्थान पर (MEH, XCIII, 314) दो सींगों वाला और एकसींग वाला[2] भी देखा गया है। इनमें द्विश्रृगी पशु की मुद्रा[3] पर एक ओर 'उकार अनान्न' लिखा है और दूसरी ओर 'वृत्रद्वयाग्निन् अन' शीर्षक है। इसका अर्थ है कि यह द्विश्रृंगी पशु उस वाङ्मय (अग्नि) पुरुष का प्रतीक है जिसमें ज्योतिसूचक उकार 'अनाग्न' में परिणत हो गया है और अन्य दो पुरुषों (मनोमय और प्राणमय) का अग्नि आवृत (वृत्र) हो चुका है। इसके विपरीत एकश्रृंगी पशु मनोमय पुरुष का प्रतीक है जिसमें केवल एक ही (प्राणमय) पुरुष का अग्नि आवृत रह जाता है और अश्रृंगी पशु प्राणमय पुरुष का प्रतीक है जिसमें एक भी पुरुष का अग्नि आवृत (वृत्र) नहीं रहता; क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यहाँ पर इंद्र वृत्र का भेदन करके उसे सोम और जठराग्नि में परिणत कर देता है। इन तीनों पशुओं की तुलना उन पुरुषाकृतियों से भी की जा सकती है जिनको क्रमशः द्विश्रृंगी[4], एकश्रृंगी[5] और अश्रृंगी[6] चित्रित किया जाता है।

(१) सोम एव सवृतः (गो० ब्रा० १, २ २४), तै० सं० १,६,७।
(२) MIC., Pl. CXVIII, 9; 12-a
(३) MEH, Pl. XCIII, 314.
(४) MEH, Pl. XCIII, 319
(५) MEH., Pl. XCIII, 310
(६) MEH.. Pl. XCIII, 308

द्विश्रृंगी पशु और वृक्ष

यद्यपि उक्त तीनों पशुओं के ऐसे उदाहरण मिल गए जिनमें सींग को छोड़ कर उनका अन्य आकार-प्रकार एकसा ही है, परन्तु वृत्रत्व का आवरण जितना अधिक गहरा होता जाता है पशु के शरीर में उतनी ही अधिक वक्रता, क्रूरता, स्थूलता एवं जटिलता आती जाती है, यहाँ तक कि कभी-कभी वह पशु ही दूसरा हो जाता है। उदाहरण के लिए जो पशु सर्वत्र एकश्रृंगी के रूप में उपलब्ध है, वही जब दो सींग धारण करता है तो अन्य आकार-प्रकार की समानता रहते हुए भी उसके सींगों के रूप-परिवर्तन के कारण ही बहुत परिवर्तन आ जाता है। अतः एक[1] दक्षिणावर्त रूप में उसके दो सींग हैं जो सिंधुघाटी के महावृषभ के ऊर्ध्वमुखी सींगों से सादृश्य रखते हैं तो उसके वामावर्त[2] रूप में वे ही दो सुदीर्घ तथा पार्श्वमुखी हो जाते हैं। किसी दक्षिणावर्त रूप में एकश्रृंगी पशु का शिर तथा श्रृंग बहुत ही सूक्ष्म[3] हो जाता है किसी में अति स्थूल[4] और किसी-किसी में शिर की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती[5] है। सामान्यतः द्विश्रृंगी पशु गौर-नामक बैल के समान होता है और वह अन्नमय पुरुष का प्रतीक है जिसमें अन्य दो पुरुष (मनोमय और प्राणमय) सम्भवतः अन्न से पूर्णतया आवृत माने जाते हैं तथा इसी तथ्य के ज्ञापनार्थ पशु के दो सींग बनाए जाते हैं, परन्तु जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, यह द्विश्रृंगी पशु शायद मूलतः आकार-प्रकार में सींग को छोड़ कर सर्वथा एकश्रृंगी पशु के समान ही था।

अतः जब अन्नमय देह को एक वृक्ष का रूप दिया गया तो उसके अधिष्ठाता आत्मा की कल्पना द्विश्रृंगी पुरुषरूप में की गई[6] अथवा दो संयुक्त[7] एकश्रृंगी पशुओं के रूप में की गई। श्वेताश्वतर-उपनिषद् में भी एक अवर्णरूपी ब्रह्म के साथ शक्तियोग से जिस नानावर्णसृष्टि का उल्लेख[8] किया गया है उसको एक

(१) MFEM, Pl. LXXXIX, 359.
(२) MIC., Pl. CX, seal 302.
(३) MFEM, Pl. LXXXIV, 85; LXXXVIII, 272.
(४) वही, Pl. LXXXIV, 74; 68.
(५) MFEM., Pl. LXXXVII, 251; 247; Pl. LXXXIX, 361.
(६) MIC., Pl. CXI, seal 356; 357.
(७) MIC., Pl. CXII, seal 387.
(८) य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णानेकान्निहितार्थो दधाति (४-१)।

वृक्ष के रूप में देखा गया है। इस उपनिषद् के अनुसार "एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्ण की अजा है जो अनेक सरूप प्रजाओं का सर्जन करती है और जिसका एक अज तो अजा का सेवन करता है, परन्तु दूसरा अज उस 'भुक्तभोगा' को छोड़ देता है। दो सुपर्ण सखा परस्पर संयुक्त होकर उसी एक वृक्ष का परिष्वजन कर रहे हैं, उनमें से एक तो स्वादिष्ट पिप्पल-फल खाता है और दूसरा बिना खाए हुए देख रहा है। उस एक ही वृक्ष में एक पुरुष निमग्न है जो 'अनीश' होने की भावना से युक्त होकर मोहग्रस्त होकर, शोक को प्राप्त होता है; जब उससे पृथक् अन्य ईश को प्रसन्न (जुष्टं) देखता है और उसकी महिमा को जान लेता है, तो वह वीतशोक हो जाता है।"[1] अज, अजा, ईश और अनीश आदि के विषय में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्वेताश्वतर[2] उपनिषद् का कहना है कि "यह विश्व क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्त का संयुक्त रूप है जिसका भरण-पोषण ईश (परब्रह्म) करता है; अनीश आत्मा भोक्तृभाव से युक्त होने के कारण बंधन में पड़ता है तथा देव (ईश) को जान लेने पर सब बंधनों से मुक्त हो जाता है। ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश-नामक दो अज हैं तथा एक अजा है जो भोक्ता के 'भोग्यार्थ' से युक्त है; जब ये तीनों प्राप्त हो जाते हैं (अस्तित्व में आ जाते हैं), तब ब्रह्म इस (विश्व) में परिणत हो जाता है, अन्यथा वह अनन्त आत्मा विश्वरूप होते हुये भी अकर्ता है।" अतः स्पष्ट है कि विश्व में अजा के अतिरिक्त दो ही तत्त्व और हैं जिन्हें दो 'अज' अथवा प्रकारान्तर से दो सुपर्ण कहा गया है। इस त्रिविध विश्वरूपी वृक्ष का एक अकर्त्ता अनन्त 'आत्मा' और है जो[3] उक्त विश्ववृक्ष के समस्त प्रपञ्च का कारण होते हुये भी उससे परे है और जिसकी 'परा' शक्ति विविधा, स्वाभाविकी कही[4] जाती है। यही 'अकर्ता अनन्त आत्मा' वह एक ध्रुव 'अज' है जिसे सर्वतत्त्वों

---

(१) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्यमहिमानमिति वीतशोकः॥ (श्वे० उ० ४, ५-७)

(२) वही, १, ८, ९।

(३) स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् (वही ६,६)

(४) वही ६, ८।

(उक्तत्रितय) से विशुद्ध कहा जाता है और इसी को 'पराशक्ति' वह अजा है जो विश्ववृक्षरूपी प्रपंच में 'भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता' कही जाती है। अतः उक्त दो अज (ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश) इसी एक अज के द्विविध रूपांतर कहे जा सकते हैं जिसको सर्वप्रथम 'अ-वर्ण' कहा गया है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद् के उक्त अज और अजा के संयोग से विश्ववृक्ष की उत्पत्ति और स्थिति का ही सुन्दर चित्र मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्रा[1] पर अंकित है। उपनिषद् के वृक्ष के समान यह वृक्ष भी, उसके पत्तों को देखते हुये, पीपल का पेड़ ही है और इसके तने से संयुक्त दो एकशृंगी शिरों को उन दो अजों का सूचक माना जा सकता है जिन्हें उपनिषद् में ज्ञ और अज्ञ पुरुष कहा गया है। निस्संदेह ये दोनों अज उसी एक ध्रुव अज के दो रूप हैं; इसीलिये संभवतः इनका एक एक ही सींग है। इस वृक्ष का मूल वही दण्डाकार अ-वर्ण है। इस दण्ड के ऊपर पीपल के पत्ते के समान एक त्रिभुजाकार आकृति है जो दो 'ज'-वर्णों के संयोग से बनी है; इस प्रकार दंड-सहित यह त्रिभुजाकार आकृति दो अजों का संयुक्त रूप बन कर उपनिषद् के उस संयुक्त सृष्टि का बीज बन जाती है जिसे 'व्यक्ताव्यक्त तथा क्षराक्षर विश्व'[2] कहा गया है। दंडारूढ त्रिभुज के ऊपर स्थित वृत्ताकार अ मिलने से अजा शब्द बन जाता है और उसके इस संयुक्त तत्त्व में त्रिभुज की तीन भुजाएं उन तीन वर्णों (लोहित, शुक्ल और कृष्ण) की द्योतक प्रतीत होती हैं जो अजा[3] के भीतर समाविष्ट माने गये हैं। दंडारूढ त्रिभुज से उद्भूत पीपल वृक्ष के पत्ते ही इस अजा की वे सरूपा (त्रिभुजाकार) प्रजाएँ हैं जिन्हें उपनिषद् की अजा उत्पन्न करती हुई कही जाती है।[4] इस अजा की तुलना सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति से की जाती है जिससे उत्पन्न समस्त सृष्टि उसी की भाँति (सरूप) त्रिगुणात्मक होती है। इसी के प्रतीक-स्वरूप मोहेनजोदरो से प्राप्त उन त्रिभुजाकार अथवा शंकुवत् वस्तुओं को लिया जा सकता है जो संभवतः चैतन्य-प्रतीक दंड पर आरूढ करके प्रदर्शित की जाती[5] थीं। यह अन और अन्न, देही और देह अथवा चैतन्य और जड़ की

(१) Mohenjodaro and Indus Civilization Vol. I, Plate CXII, seal 387; (आ० ८)

(२) संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः (श्वे० उ० १, ८)

(३) अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां (श्वे० उ० ४, ५)

(४) बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः (वही ४, ५)

(५) देखिये MFEF., Plate CIV के १० और ११, (आ० ६)

संयुक्त इकाई का प्रतीक था। एक दूसरा ढंग इस संयुक्त (शक्ति-शक्तिमान्) तत्त्व को व्यक्त करने का था ज्योति-युक्त दीपक के प्रतीक द्वारा। उपनिषद्[१] ने इसी को 'दीपोपम' आत्मतत्त्व कहा है, और यही हम आज भी आरती-दीप तथा उन अन्य ज्योति-दीपों के रूप में अपने यहाँ पाते हैं जिनको नवरात्र, दिवाली, दशहरा आदि के पूजन-पाठ के अवसर पर रक्खा जाता है। मोहेनजोदरो[२] में भी दीपावली के दीपों की भाँति अनेक लघु दीपों का पाया जाना इसी प्रथा का द्योतक प्रतीत होता है। सिंधुघाटी के न-वर्ण के भीतर दण्डाकार अ-वर्ण को रख कर भी यह प्रतीक[३] बनता है। इसी प्रतीक में जब 'अप' (कर्म) को और सम्मिलित किया जाता है, तो अग्नि शब्द के शिर पर एक केन्द्रस्थ छिद्रसहित वृत्ताकार अ-वर्ण[४] रख दिया जाता है। सिंधुघाटी में केन्द्रस्थ छिद्रसहित जो अनेक वृत्ताकार[५] पदार्थ मिले हैं वे संभवतः इसी प्रतीक की प्रतिकृतियाँ हैं।

अन और अन्न के इसी संयुक्त तत्त्व को हड़प्पा से प्राप्त एक सुंदर मुद्रा में देखा जा सकता है। इस मुद्रा के एक ओर लिखा है 'उकारत्रयान्न जश्न' और दूसरी ओर एक उल्टे उकाररूप पीपल-वृक्ष पर ग्यारह पत्ते हैं और उकार के भीतर एक पुरुषाकृति है जिसके शिर पर उक्त पीपलवृक्ष को स्पर्श करते हुये तीन दंडाकार अ-वर्ण त्रिशूल सा बना रहे हैं। उकारत्रय वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय पुरुषों अथवा अग्नि, वायु (आदित्य) एवं इंद्र ज्योतियों के प्रतीक हैं जो चित्र में पुरुषाकृति के शिर पर स्थित तीन दंडाकार अ-वर्णों द्वारा व्यक्त किये गये हैं। उकाररूप पीपलवृक्ष का आवरण और उसके ११ पत्ते उन सात अन्नों[६] और चार वित्तों[७] की समष्टि के प्रतीक प्रतीत होते हैं जिन्हें उपनिषदों में प्रजापति के मेधा एवं तप की संयुक्त उपज कहा जाता है। विश्वात्मा उक्त त्रिविध ज्योतिस्वरूपों द्वारा उक्त अन्नवित्त समष्टि की आहुतियों को ग्रहण कर रहा है—यही 'जश्न' अथवा यज्ञ है। इसी अर्थ में 'अन' को भूमा कहने के साथ-

---

(१) श्वे० उ० २, १५.
(२) M. F. E. M. plate CXI, seal 1. (आ० ३)
(३) MEH. plate XCVII 521 etc. (लिपिद्वय पटल १)
(४) वही seal 521 (लिपिद्वय पटल १)
(५) वही XCV, seal 409.
(६) बृ० उ० १, ५, १-२.
(७) वही १, ४, १७।

साथ यज्ञ[1] भी कहा गया है, क्योंकि बृहदारण्यक-उपनिषद्[2] के शब्दों में 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन'—ये उसी एक चैतन्य तत्त्व के रूपांतर हैं जो समस्त अन्न का भोक्ता बनकर सप्तर्षियों के यज्ञ का मूल कारण बनता[3] है। अत एव उक्त 'उकारत्रयान्न जश्न' वाला पीपलवृक्ष वस्तुतः अन्नाद अन्न का संयुक्त प्रतीक है जिसकी तुलना आकृतिसंख्या ८ पर अंकित वृक्ष से की जा सकती है, क्योंकि इसमें भी दंडारूढ त्रिभुज उक्त संयुक्त तत्त्व का द्योतक है और उसमें भी पत्तियाँ ११ हैं। दंडारूढ त्रिभुज (अजा) के ऊपर, दो सग्रीव एक-शृंगी शिर धनुषाकार आकृति बनाते हुये परस्पर जुड़े दिखाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक शिर अ-वर्ण का सूचक है और शृंगसहित ग्रीवा ज-वर्ण[4] बनाती है; इस प्रकार सग्रीव एकशृंगी शिरों के माध्यम से दो स्थानों पर 'अज' शब्द बन जाता है। साथ ही दंडरूप 'अ' के साथ ही कान, सींग और शिर द्वारा 'श' मुख से लेकर समस्त गर्दन-भाग द्वारा व तथा व के भीतर एक-एक लघु गोलाकार में दंड जोड़ने से 'इन' बन गया है; इन सभी अक्षरों को मिलाने से अश्विन शब्द बनता है। इस प्रकार दो सग्रीव शिरों द्वारा 'अजो' तथा 'अश्विनौ' दोनों का निर्माण हो जाता[5] है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि उक्त दोनों अजों की भाँति अश्विनौ भी संयुक्त सखा हैं जिनसे पृथक् न होने की प्रार्थना[6] की जाती है। उपनिषद् के उपर्युक्त श्लोकों में, इन्हीं दोनों को 'द्वा सुपर्णा' भी कहा गया प्रतीत होता है, क्योंकि ये दोनों सुपर्ण भी अजों के समान 'संयुक्त' (सयुज) सखा हैं, और जिस प्रकार एक अज अजा का सेवन करने वाला है और दूसरा उसका त्याग करने वाला है, उसी प्रकार एक 'सुपर्ण' भी अजारूपी प्रकृतिवृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा केवल देखता है। इसी प्रकार सुपर्णों के साथ अश् धातु (तु०क० अश्नन) का प्रयोग करके अश्विनौ के साथ उनका तादात्म्य-संबंध होना भी बता दिया है। संभवतः पर्णों की भाँति वृक्ष से जुड़े होने के कारण ही इन्हें सुपर्ण (सुंदर पत्ते) कहा गया हो। उपनिषद् के अगले श्लोक में, इन्हीं दोनों सुपर्णों को दो पुरुष कहा गया है जो सुपर्णों की भाँति एक ही वृक्ष पर

---

(१) भूमा वा अन्नः (श० १, १, २, ६) यज्ञो वा अन्नः (श० १, १, २, ७; ३, ६, ३, ३)
(२) १, ५, ३।
(३) बृ०उ० २, ४, ३-४।
(४) ज अक्षर के लिये, देखिये आगे 'संबंधित लिपि-संकेत'।
(५) वही
(६) मा नो वि यौष्टं सख्यः मुमोचतम. (ऋ० ८, ८६, ५)

(समाने वृक्षे) हैं जिनमें से एक ईश है और दूसरा अनीश प्रतीत होता है। उक्त उपनिषद्[1] ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि ये दोनों पुरुष ज्ञ और अज्ञ, ईश और अनीश हैं तथा इन्हीं को अजा से संबंधित दो अज कहा गया है।

अतः कह सकते हैं कि दो अजों, दो सुपर्णों, दो अश्विनों तथा दो पुरुषों के लिए सिन्धुघाटी के मुद्राचित्र १ में सग्रीव एकशृंगी शिरों की जोड़ी रक्खी गई है। इस प्रकार कई कल्पनाओं को एक में सम्मिलित करना वैदिक कवि के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि पहले ही ऋग्वेद में पूषा देव को अजाश्व[2] कहा जाता है और अश्व को श्येन के पक्षों से युक्त[3] तथा मरुतों को अश्वपर्ण[4] बताया जाता है; स्वयं अश्विनों[5] की गति श्येन के समान है और दधिका अश्व[6] हंस है तथा उसकी तुलना श्येन से भी की गई है। फिर भी एकशृंगी शिर की बात अद्भुत प्रतीत हो सकती है, परन्तु यदि इसे वास्तविकता पर आधारित न मान कर पूर्ववत् कवि-कल्पना पर आश्रित माना जाय तो इसमें कोई अनोखी बात नहीं रह जाती। ऋग्वेद के कवियों ने कई संदर्भों में एकशृंग की ही कल्पना की है। उदाहरण के लिए, गायों का एक ही सींग (ऋ. ५,५९, ३) है। अग्नि[7] का भी एक ही सींग है और सोम देवता का तिग्म शृंग (९, ८७, ७; ९, ५, २) भी एक ही है। ऋ० १, १६३, ८ में वर्णित अश्व भी हिरण्यशृंग है और उसे 'अवर इन्द्र' भी कहा गया है। इसलिये सिंधुघाटी के एकशृंगी पशु के दो शिरों को उदनिषद् के दो अज, दो सुपर्ण, दो अश्विन अथवा दो पुरुष मानने में कोई असंगति नहीं है। इसका अभिप्राय है कि वेद में एक ऐसे एकशृंगी की कल्पना की गई थी जिसे पशुओं का भी प्रतीक माना जाता था।

वस्तुतः यह कल्पना वैदिक और सिंधुघाटी-परंपरा में एक सी मान्य है। दोनों में एक ऐसे पशु की कल्पना की गई थी जो सभी पशुओं का प्रतिनिधि माना जा

---

(१) ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
(श्वे० उ० १, ९)

(२) ऋ० १, १३८, ४; ६, ५५, ३–४; ६, ५८, २; ९, ६७, १०।

(३) ऋ० १, १६३, १।

(४) ऋ० १, ८८, १; ६, ४७, ३१।

(५) ऋ० १, ११८, ११; ५, ७८, ४।

(६) ऋ० ४, ४०, ३।

(७) ऋ० ६, ६०, १३; ५, २, ९।

सके । मैत्रायणीसंहिता[1] (२. ५, ९) के अनुसार, अज सभी पशुरूपों का प्रतिनिधित्व करता है—इसमें पुरुष के श्मश्रु, अश्व का शिर, गर्दभ के कान, कुत्ते के रोम, गो के अगले पैर और भेड के पिछले पैर हैं; अतः अज में सभी पशुरूप आ जाते हैं और अज उन सब का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सिंधुघाटी के एकशृंगी[2] पशु में संभवतः ऐसे ही अज-विशेष को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है—उसके निचले जबड़े के नीचे जो गहरी और उभरी हुई रेखायें हैं वे पुरुष की श्मश्रु हैं; शिर की तुलना अश्वशिर से तथा कान की गधे के कान से हो ही सकती है और उसकी रोमावलि, अगले पैर एवं पिछले पैर क्रमशः श्वान, गो, एवं भेड के माने जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह पशु मुद्राचित्रों में सर्वत्र एक-सा नहीं है, कहीं श्मश्रुविहीन चिकने सींग और चिकनी गर्दन वाला[3] है, तो कहीं श्मश्रुयुक्त खुरदरे सींग तथा खुरदरी गर्दनवाला[4] है; कहीं उसके ऊपर एक पक्षी चित्रित[5] है और कहीं दो पक्षी[6]। प्रायः सर्वत्र इस पशु के आगे एक दंडारूढ त्रिभुज के ऊपर चतुर्भुज अथवा पिरामिड-सा रक्खा हुआ है, परन्तु कम से कम दो चित्रों[7] में यह चिह्न बिल्कुल नहीं है। एक स्थान पर इसके बदले[8] केवल दंडारूढ़ त्रिशूल और एक अन्य स्थान[9] पर इस त्रिशूल के ऊपर चतुर्भुज भी रक्खा हुआ है। इस विविधता का अभिप्राय यही हो सकता है कि यह एकशृंगी पशु सर्वत्र एक ही पशु का प्रतिनिधित्व नहीं करता, अथवा विभिन्न स्थानों पर उसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। यही बात वैदिक अज के लिये भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिये, उपर्युक्त श्वेताश्वतर-उपनिषद् के श्लोकों में अज को पुरुष माना गया है और अथर्ववेद में वह कहीं पाँच प्रकार का ओदन

---

(१) सर्वेषां वा एष पशूनां रूपाणि प्रति. पुरुषस्यैव श्मश्रूणि. अश्वस्येव शिरो, गर्दभस्येव कर्णौ, शुन इव लोमानि, गोरिव पूर्वौ पादौ, अवेरिवापरौ, अजः खलु वै सर्वाण्येव पशूनां रूपाण्या स्वऽवरुन्धे। सर्वाण्येव पशूनां रूपाण्युपतिष्ठन्ते।

(२) मुख्यतः देखिये MIC., Pl. CV., seals No. 46; 66; 102. (आ० १४ से १६)

(३) वही ६७, ६६, ६५. ५६ इत्यादि (आ० १७ से २०)

(४) वही ४६, ६६, १०२, ६१ इत्यादि। (आ० १४ से १६ तथा २१)

(५) वही Pl. CVI, 93 (आ० २२)।

(६) वही Pl. CIV 36 (आ० २३)

(७) वही Pl. CVI. 93 (आ० २२) CX., 274 (आ० २४)

(८) वही Pl. CVIII. 167 (आ० २५)

(९) वही Pl. CIX. 221 (आ० २६)

खाने वाला (पञ्चौदन)[१] है, तो कहीं वह स्वयं अग्नि है[२], कहीं तृतीय ज्योति[३] और कहीं विश्वरूप[४]। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रंथों में 'अज' वाक् (श० ब्रा० ७, ५, २, २१) है, ब्रह्म है (श० ब्रा० ६, ४, ४, १५) और है आग्नेय अथवा अग्निषोमीय (श० ब्रा० ६, ४, ४, १५; गो० उ० ३, १९; तां० ब्रा० २१, १४, ११) क्योंकि अज के भीतर उन सभी पशुओं का रूप[५] है जो वाक् ब्रह्म आदि के प्रतीक माने गए हैं।

अत एव इस एकशृंगी पशु (अज) के प्रतीक के अन्तर्गत उस में समाविष्ट अन्य चिह्नों के हेरफेर द्वारा उन सभी कल्पनाओं को मूर्तरूप देना सम्भव था जो अन्य पशु-प्रतीकों द्वारा व्यक्त की जा सकती थीं। उदाहरण के लिए सिन्धुघाटी के दो ऐसे मुद्राचित्रों[६] को लेते हैं जिनके ऊपर एक ही लेख है 'वृत्र' या 'वृत्रहा'[७]; परन्तु एक में एकशृंगी पशु (अज) का चित्र है और दूसरे में एक द्विशृंगी वृषभ में लम्बी उठी हुई पूँछ तथा एक लटकती हुई सूंड भी दिखाई गई है। इसकी तुलना-स्वरूप ऋग्वेदीय अग्नि के दो चित्र ले सकते हैं जिनमें से एक में (६, ६०, १३) वह एकशृंगी पशु है जिसकी हनु तीक्ष्ण तथा जबड़े सुंदर हैं और दूसरे (१, १४०, २) में वह विचित्र पशु है जो अपने एक मुख से वृषा तथा दूसरे से वृक्षों को खाने वाला हाथी (वारण) बन जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में अग्नि अथवा प्रजापति को कभी अश्व (श० ६, ३, ३, २२; १३, १, १, १; तै० १, १, ५, ५; ३, २, २, १) कभी श्वेत अश्व (श० ३, ६, २, ५; ६, ३, ३, २२; तै० ३, ९, २१, ४; ३, ९, २२, १–२); कभी उष्ट्रमुख अश्व (श० ब्रा० ७, ३, २, १४) तथा कभी अज के अतिरिक्त अज वृषभ (श० ५, २, १, २४) के प्रतीक द्वारा भी व्यक्त किया गया है क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक प्रतीकवाद में अश्व भी शृंगवाला हो सकता है और अज में भी अश्वरूप का समावेश है।

---

(१) अ० वे० ९, ५, ८।
(२) अजोऽग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीविता ब्रह्मणे देयमाहुः (अ० वे० ९, ५, ७)
(३) एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं (अ० वे० ९, ५, ११)
(४) अ० वे० ९, ५, १९-२१।
(५) अजे हि सर्वेषां पशूनां रूपम् (श० ब्रा० ६, ५, १, ४)
(६) MIC. Pl. CXII. 378, (आ० २८) CIX 252 (आ० २७)
(७) देखिये 'वर्णमाला'।

अन्नाद अग्नि

अब प्रश्न यह रह जाता है कि सिन्धुघाटी के मुद्राचित्र में स्थित दोनों एकशृंगी पशु किस के प्रतीक हैं ? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वृक्ष पशु का अन्न (भोजन) है अतः उपनिषद् के आधार पर यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि इन दोनों में से एक अन्नाद[1] (भोजन को खाने वाला) है। उक्त मुद्राचित्र (सं० ८) में नीचे दो कोनों पर जो लिपिचिह्न हैं, उनसे भी यही संकेत मिलता है कि इस चित्र में अन्नाद और अन्न, भोक्ता और भोग्य दोनों का समन्वय किया गया है। बायें कोने पर स्थित चतुर्भुज अपने में निम्नलिखित प्रतीक छिपाए हुए है—

(१) एकत—इसका प्रतीक चतुर्भुज का अविभक्त अर्द्धांश है।
(२) द्वित—इसका प्रतीक दो समान भागों में विभक्त उसका द्वितीय अर्द्धांश है।
(३) त्रित—इसका प्रतीक द्वित और एकत प्रतीकों के संयुक्त रूप से बनता है।

एकत, द्वित और त्रित को एक ही चतुर्भुज के भीतर रखने का यह अभिप्राय है कि यहाँ इन तीनों का एकत्रित रूप दिखाया गया है जिसमें उक्त तीनों रूप व्याकृत होकर भी एकगत हैं। तीनों रूप परस्पर पृथक् नहीं हुए, इस कल्पना को व्यक्त करने के लिए उक्त चतुर्भुज के पास ही एक दंडारूढ[2] त्रिभुज भी बना है जिसमें दंड 'अ' का द्योतक है और त्रिभुज 'त्रि' का है। इस प्रकार बने हुए शब्द 'अत्रि' का साधारण अर्थ हुआ 'तीन नहीं' परन्तु ब्राह्मणग्रंथों ने इसकी व्युत्पत्ति अद (खाना) धातु से करके इसमें अत्ता (खाने वाला) के श्लिष्टार्थ[3] का भी समावेश कर दिया है। अत्रिसूचक चिह्न के साथ ही पास में 'अग्नि' शब्द[4] भी लिखा है; अतः कुल मिला कर तीनों चिह्न का अर्थ हुआ 'एकत्रित अत्ता (अत्रि) अग्नि'। ब्राह्मणों में अग्नि के इसी रूप को अन्नाद भी (तै० २, ५,७, ३) कहा गया है और वह अङ्गार, अर्चि तथा धूम-रूप में त्रिवृत् (कौ० २८,५; श०६,३, १,२५) भी है। इसी कल्पना को आध्यात्मिक रूप देने पर,

---

(१) तु० क० तयोरन्यो पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अथवा अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते। (श्वे० उ० ४, ५-६)।
(२) देखिये 'संवंधित लिपि-चिन्ह'।
(३) अत्तिर्हि नाम एतद् यदत्रिरिति (श० १४, ५, २, २); स वै यः सोऽत्ताऽग्निरेव सः (श० १०, ६, २, २)
(४) देखिये 'वर्णमाला'।

आत्मा को वाक्, मन तथा प्राण की दृष्टि से त्रिविध माना[1] जाता है और क्रमशः शरीर, तेजोमय तथा अमृतमय कहा जाता है[2] अथवा शुद्ध भौतिक रूप (बहिरात्मा) में दक्षिण पक्ष, उत्तर पक्ष तथा पुच्छ की दृष्टि से त्रिवृत माना जाता है। यह आत्मा अग्नि (तै० ३,१०,११,१) सिन्धुघाटी के मुद्रा-चित्रों में जब त्रिवृतरूप में चित्रित किया जाता है तो उसके तीन शिर होते हैं (आ० ३०) जिनमें से एक कभी एकशृंगी पशु का भी होता है और कभी तीनों ही द्विशृंगी होते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस चित्र पर सात का अंक सात अन्नों का तथा 'अत्रि' शब्द अन्नाद अग्नि का सूचक है। एक दूसरी दृष्टि से सर्वतोमुख अन्नाद[3] अग्नि के सभी ओर मुख होते हैं (श० २,६,३,१५) और आत्मा को षड्विध[4] कहा है (कौ० २०,३); इसी दृष्टि से सिन्धुघाटी में छ:मुखवाले पशु-चित्र[5] (आ० २९) भी मिलते हैं जिनमें यद्यपि मुद्रा त्रुटित हो जाने से सभी मुखों को पहिचानना कठिन है, परन्तु अनुमानतः उक्त त्रिवृत अग्नि के चित्र में जो तीन शिर दिखाए गए हैं उनके अतिरिक्त सर्वतोमुखरूप में चीता, भैंसा और गैंडा के शिर और सम्मिलित किए गए[6] हैं। इसी चित्र का रूपान्तर एक अन्य मुद्रा[7] पर भी मिला है जिसमें पूरा शिर तो केवल एकशृंगी पशु का ही बन पाया है परन्तु अन्य पाँच शिरों के स्थान पर उभरे हुए पाँच अङ्क दिखाये गये हैं। इस चित्र की एक विशेषता यह है कि इसमें एकशृंगी शिर के नीचे ११ का अंक बना है और शेष पाँच स्थानों पर क्रमशः डेढ़ उकार, अयज अग्नि, वृत्र तथा इंदु शब्द[8] लिखे हैं। इन छः में से इंदु का वृत्र, अग्नि का अयज और सम्भवतः

(१) एतन्मयो वाऽअयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः (श० १४, ४, ३, १०)।

(२) यश्चायमध्यात्मं, शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव, सयोऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम् (श० १४, ५, ५, १)।

(३) सर्वतोमुखोऽयमग्निः। ततो ह्येष कुतश्चाग्नावभ्यादधति तत एव प्रदहति। तेनैष सर्वतोमुखस्तेनान्नादः (श० २, ६, ३., १५)।

(४) षडङ्गोऽयमात्मा षड्विधः (कौ० २०, ३)।

(५) MIC, Pl. CXII, 383 (आ० २९)।

(६) तु० क० K.N. Shastri, The New Light on Indus Civilization. Vol. II, P. 119.

(७) Mackey; E., furthr Excavations, Vol. II, Pl. XCVIII, 641 (आ० ३१)।

(८) देखिये 'वर्णमाला'।

वायुसूचक* डेढ़ उकार का ११ अङ्क आवरक है। इसी प्रकार सम्भवतः उक्त छः पशुओं में से भी तीन क्रमशः उकार अग्नि तथा इन्दु के प्रतीक हैं और शेष तीन क्रमशः उनके आवरकों के।

सर्वतोमुख अग्नि के उक्त दो चित्रों में से पूर्वचित्र में सभी छः मुख एक ऐसी हृदयाकार वस्तु से जुड़े हैं जिसको ब्राह्मणग्रंथों की 'उखा' कह सकते हैं। उखा साधारण भाषा में एक यज्ञपात्र है जो अग्नि का प्रतीक है और आत्मा के अग्निरूप होने से आत्मा[1] का भी। शरीर में 'उदर' का नाम भी उखा[2] था, उसीके अनुकरण पर उखा-नामक यज्ञपात्र बना था। उदर से अभिप्राय हृदय से ही रहा प्रतीत होता है। हृदय ही शरीरगत यज्ञ का केन्द्रस्थान है जिसमें मूर्धा, मन, श्रोत्र, वाक्, शरीर, रेतस् (तै० ब्रा० ३, १०, ६, ४–६) और आत्मा (श० ३, ६, ३, ८) भी आश्रित बताये गए हैं; इसी लिए हृदय के प्रतीक उखा-नामक यज्ञपात्र को भी अग्नि का पर्व[3], यज्ञ का शिर[4] तथा योनि[5] कहा गया है। महाभारत में अग्नि (आत्मा) तथा उखा के सम्बंध को स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि अग्नि नित्य है और उसका प्रतीक उखा[6] उससे भिन्न हैं। अतः सिन्धुघाटी के उक्त चित्र में वह हृदयाकार वस्तु जिससे सभी छः शिर जुड़े हुए बताए गए हैं वह उखा ही है। इसी उखा के दो भाग होकर सिन्धुघाटी के दो वकार बन जाते हैं जो आत्मज्योति के दो खंड प्रतीत होते हैं—एक वरुण और दूसरा वृत्र। इनमें प्रत्येक को आगे अर्द्ध-उखा कहा जाएगा। इन्हीं दो खण्डों को आकृति ८ में दो सग्रीवशिरों की अर्ध-उखात्मक ग्रीवाभंग द्वारा व्यक्त किया गया है। अतः प्रश्न होता है कि सिन्धु-घाटी के सर्वतोमुख चित्र में जो छः शिर दिखाए गए हैं वे भी कहीं इन्हीं दोनों से किसी प्रकार सम्बन्धित तो नही हैं ?

बृहदारण्यक-उपनिषद् की सहायता से इसका स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है। इस उपनिषद में सात अन्नों और चार धनों का उल्लेख है

(*) अध्यर्धो वायुः।
(१) आत्मैवोखा (श० ६, ५, ३, ४; ६, ६, २, १५)
(२) उदरम् उखा (श० ७, ५, १, ३८)
(३) पर्व एतदग्नेर्यदुखा (श० ६, २, २, २४)
(४) शिर एतद् यज्ञस्य यदुखा (श० ६, ५, ३, ८; ६, ५, ४, १५)
(५) योनिर्वाऽउखा (श० ७, ५, २, २)
(६) अन्यो हि अग्निः उखाप्यन्या नित्यमेवमवेहि भोः (म० भा० १२, ३, १५, १५,)

(१, ४, १७; १, ५, १-३) इन्हीं को सूचित करने के लिए ग्यारह का अंक सर्वतोमुख पशु-चित्र[१] के नीचे लिखा है और यही अंक चित्र ८ के नीचे दाहिनी ओर है जिसके पास चतुष्कोण के भीतर सात अन्न और चार वित्तों के द्योतक लिपि-चिह्न[२] हैं। चित्र ८ के वृक्ष-चित्र में इन्हीं ग्यारह की अन्नवित्त-समष्टि को व्यक्त करने लिए सात बड़ी पत्तियां और चार कोंपलें बनाई गई हैं। सर्वतोमुख[३] चित्र में ग्यारह के अङ्क के नीचे जो पौन वकार का लिपि-चिन्ह बना है उसके भीतर दो का अङ्क यह सूचित करता है कि यहाँ पौन का दूना अर्थात् डेढ़ वायुसूचक[४] वकार अभीष्ट है। 'व' के यही दो पूर्ण लिपि-चिन्ह ८ में एकशृंगी पशुद्वय के दो ग्रीवा-भंगों में समाविष्ट कर दिए गए हैं और दोनों मिल कर सम्पुटरूप में छ:मुखी[५] पशुचित्र में केन्द्रवर्ती उखा का निर्माण करते हैं। इस उखा में दोनों का समावेश होना इसी से स्पष्ट है कि उस चित्र में एक ओर उसी उखा आकृति[६] से विपरीत दिशाओं में निकलते हुए दो वकार दिखाए गए हैं। अतः आ०-३२ में एकादशी अन्नवित्त समष्टि के साथ ही दो संयुक्त सग्रीव-शिरों की ग्रीवाभंगिमाओं द्वारा जो संयुक्त वकार चित्रित किए गए हैं वे वही हैं जो छ:-मुखी[७] चित्र में ग्यारह के अङ्क के नीचे वायुसूचक डेढ वकार के रूप में खण्डशः दिखाए गए हैं।

इस विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुघाटी में उपनिषद्-परम्परा की एकादशी अन्नवित्तसमष्टि को त्रिवर्णा अजा (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) के स्थूल विकसित रूप को सपर्ण वृक्ष द्वारा इंगित किया जाता था और उसी का ज्योतिर्मय सूक्ष्म रूप दो अर्द्ध उखाओं के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया जाता था। वृहदारण्यक-उपनिषद्[८] की उक्त एकादशी अन्नवित्त समष्टि में सूक्ष्म अन्न तीन माने गए हैं और वे हैं वाक्, मन और प्राण या इन्द्र जिन्हें प्रजापति ने अपने लिए सुरक्षित रक्खा है; इन्हीं के संयोग से आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय होता है।

---

(१) MFE. Vol. II Pl. XCVIII, 641 (आ० ३१)
(२) देखिये अंत में वर्णमाला।
(३) MFE. Vol. II Pl. XCVIII, 641 (आ० ३१)
(४) यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्वमध्यार्ध्नोतितेनाध्यर्ध इति (श० १४, ६, ९, १०) तु० क० अर्धं ह प्रजापतेर्वायुरर्धं प्रजापतिः (श० ६, २, २, ११)
(५) MIC. Vol. III, Pl. CXII, 383 (आ० २९)
(६) आ० २९।
(७) आ० ३१।
(८) १, ५, ३।

इन्हीं को विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात कहा गया है[1]। इन तीनों की ज्योति का नाम क्रमशः अग्नि, आदित्य तथा इंदु है और इनके शरीर क्रमशः पृथिवी, द्यु तथा आपः कहे जाते[2] हैं। सिन्धुघाटी के छः मुखी चित्र में (आ० ३१) जो छः नाम मिलते हैं उनमें से ३ तो इन्हीं तीन ज्योतियों के प्रतीत होते हैं और इनमें से प्रत्येक के साथ एक अन्य नाम उस ज्योति को आवृत रखने वाले शरीर का है। अतः इंदु ज्योति का आवरणशरीर वृत्र, अग्नि का अयज तथा आदित्य (वायु) (जिसे दो पौन वकारों द्वारा व्यक्त किया गया है) का एकादशी अन्न-समष्टि (अङ्क ११) बतलाया गया प्रतीत होता है। इनमें से आदित्य[3] (वायु) ही अत्ता, अत्रि या अन्नाद अग्नि है, इसीलिए वह अन्नवित्त समष्टि से घिरा हुआ बताया गया है; यही भोक्ता (जुषमाणः) अज तथा पिप्पली खाने वाला सुपर्ण के रूप में वर्णित अज्ञ अनीश[4] पुरुष है। इसके विपरीत अयज से आवृत होने वाली अग्नि ज्योति अनाहारी अज या सुपर्णरूप में वर्णित ज्ञ और ईश पुरुष[5] है जिसे इसका ज्ञान तो है कि अजा (प्रकृति) को भोगा जा रहा है (अन्न को खाया जा रहा है), परन्तु वह स्वयं उसे नहीं भोगता, केवल देखता है। इन दोनों ज्योतियों की संयुक्त ज्योति इंदु (सोम)[6] है जो उपनिषद् में इन्द्र (प्राण) के अन्तर्गत मानी गई है और सिन्धुघाटी में जिसके आवरक शरीर का नाम वृत्र बताया गया है। इसी अवस्था को इंगित करते हुए ब्राह्मण-ग्रंथों में इंदु अथवा सोम को वृत्र[7] कहा गया है।

सिंधुघाटी में उक्त तीनों ज्योतियाँ अपने-अपने शरीरों से आवृत पुरुष रूप में चित्रित की गई हैं। हड़प्पा[8] की एक तिपहली मुद्रा पर तीन पुरुषों के चित्र हैं जिनमें से एक शिरहीन होने से 'अज्ञ' पुरुष अन्नाद का प्रतीक लगता है, दूसरा हस्तरहित होने से अकर्ता तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण से 'ज्ञ' पुरुष का प्रतीक

---

(१) बृ० उ० १, ५, ४-१०।
(२) वही १, ५, ११-१३।
(३) तु० क० आदित्य की माता अदिति की व्युत्पत्ति "सर्वं वा अत्ति इति तददतेरदितित्वम् (श० १०, ६, ५, ५); अत्रि = अदिति (श० १, ४, ५, १३)
(४) श्वे० उ० ४, ५-७; १, ९।
(५) वही।
(६) सोमो वाऽइन्दुः (श० २, २, ३, २३; ७, ५, २, १९; सोमो वै राजेन्दुः ऐ० १, २९)
(७) वृत्रो वै सोम आसीत् (श० ३, ४, ३, १३; ३, ९, ४, २; ४, २, ५, १५) अथैष वृत्रो यच्चन्द्रमा (श० १, ६, ७, १३; १८)
(८) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 305 (आ० ३३)

है; और तीसरा संपूर्णपुरुष होने से तथा अपने दोनों हाथों की मोड़ों द्वारा दो उकारों की सृष्टि करने से उक्त दोनों पुरुषों की ज्योतियों का संयुक्त रूप प्रतीत होता है। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन तीनों पुरुषों के साथ आवरक वृत्र का लिपिचिन्ह है, परन्तु जहाँ पहले एवं दूसरे पुरुष के साथ समूचा वृत्र-चिन्ह है, वहाँ तीसरे के साथ आधा ही वृत्र-चिन्ह रह जाता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि उपनिषद् तथा चित्र में तीनों ज्योतियों के शरीरों के जो भिन्न-भिन्न नाम बतलाये गये हैं वे वस्तुतः वृत्र-तत्त्व के ही रूपांतर-मात्र हैं। जो ज्योति जितनी अधिक तेज होगी आवरक वृत्र का आवरण उतना ही कम होगा, इसीलिये तृतीय पुरुष में आवरक वृत्र का अर्द्धांश ही है, क्योंकि इसके भीतर अन्य दोनों की ज्योतियों का एकत्र होना उसके दोनों हाथों की मोड़ों से बने दो उकारों से प्रकट होता है। इन्हीं तीनों पुरुषों के चित्र एक दूसरी मुद्रा[1] पर एक अन्य प्रकार से मिलता है। यहाँ चौकी पर एक पुरुष योगासन में बैठा हुआ है जिसके दोनों ओर दो नग्नपुरुष अपनी-अपनी ज्योति का प्रतीक (आ० ३५) उकार भेंट कर रहे हैं। इन दोनों पुरुषों के पीछे जो एक-एक अहि अपने फण की छाया सा करता हुआ खड़ा है वह उसी वृत्र का प्रतीक है जो पूर्व चित्र (आ० ३४) में उन दोनों के साथ सम्बद्ध बताया गया है क्योंकि अन्यत्र[2] दोनों सर्पों का चित्र बनाकर साथ ही 'मन वृत्रापौ द्वौ' लेख भी मिलता है, और इसी चित्र के पीछे 'उ वृत्रहा' लिखा है और उससे नीचे एक उड्डोयमान श्येन समान मुख वाला अज है जो तृतीय पुरुष का प्रतीक लगता है। इसी की तुलना एक अन्य चित्र[3] से की जा सकती है जिसमें एक ओर 'मन वृत्राप' लेख के साथ दो सर्प हैं और दूसरी ओर अन-अन के बीच 'उ अत्रि' लिखा है। तृतीय पुरुष के शिर के ऊपर दो उकार संयुक्त रूप में दिखाये गये हैं; इससे स्पष्ट है कि वह अन्य दो पुरुषों का संयुक्त रूप है। इस पुरुष के आसन के नीचे दो मेंढ़े खड़े हुये हैं जो अन्य चित्रों में उक्त दो पुरुषों से संबद्ध दिखाये गये हैं। ये दोनों मेंढ़े क्रमशः अज्ञ और ज्ञ-पुरुष के मन के प्रतीक हैं। समस्त चित्र को समझने के लिये इसके ऊपर 'वृत्रद्वय त्रिवृत अकार' लिखा है, जिसमें से वृत्रद्वय से अभि-

(१) MFE., Pl. CIII, seal 9, (आ० ३४); MIC., Pl. CXVIII, seal VS. 210 (आ० ३५)

(२) MFE., Pl. CI, seal 11—a,b.

(३) MFE. Pl. 15, a–b (आ० १०)

प्राय दो सर्पों से है और त्रिवृत अकार पुरुषत्रय का द्योतक है। एक चित्र[1] में ११ पीपल-पातों से युक्त वकार (जो कि वरुण का प्रतीक है) के नीचे इन्द्र खड़ा है और उसके सामने अपने चक्षुहीन,नग्न,मन-मेष को पीछे किये हुये अज्ञ पुरुष नग्नावस्था में हाथ जोड़ता तथा गिड़गिड़ाता-सा है; सम्भवत: इसी अनुनय-विनय के फलस्वरूप उसे पांच पत्तियों का वकार (वरुण) मिल जाता है जिसके नीचे वह चित्र ३७ में हृष्टपुष्ट (उक्त दीनावस्था से विपरीत) दिखाई देता[2] है और एक अन्य चित्र[3] में शिर पर त्रिशूल धारण करके अपने नग्न अंधे मेंढ़े को अष्ट-पर्ण वकार के भीतर स्थित त्रिशूलधारी देव के सामने अपने नग्न, अंध मन-मेष को करके ऊपर खड़े हुये छः पुरुषों (जो पाँच कर्मेन्द्रियों सहित वाक् के प्रतीक हैं) को दोनों हाथ उठाकर बुलाता हुआ अन्नपूर्णा प्रकृति को भोगने के लिये आह्वान-सा करता है।

इससे विपरीत एक अन्य चित्र[4] में एक छः पत्रों वाले वकार के भीतर स्थित त्रिशूल वषटधारी व्यक्ति के पास त्रिशूलवषट्धारी पुरुष झुका हुआ एक पत्ते को स्पर्श कर रहा है और उसका पुरुष-मुखी मन-मेष स्थिर-भाव से अपने आयत नेत्र से देख रहा है। पूर्व-पुरुष के नेत्रहीन मेष के विपरीत आयतनेत्र-मेष से संबद्ध यह पुरुष स्पष्टत: द्रष्टा प्रतीत होता है; इसीलिये इसके पास खड़े हुये सात पुरुष पंचज्ञानेन्द्रियों सहित बुद्धि के प्रतीक समझे जा सकते हैं और देव के आवरक वकार की छः पत्तियाँ मन-सहित छः ज्ञानेन्द्रियों के विषय हो सकते हैं। सिंधुघाटी की एक अन्य मुद्रा[5] (आ० ३९) में भी ये सप्त पुरुष चित्रित प्राप्त हुये हैं जहाँ पर घ्र, र, च, त, व, श्र और म क्रमशः घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, वाक्, श्रोत्र तथा मन के सूचक हैं। यह चित्र ऋग्वेद के तौग्र्योपाख्यान (१, १८२, ५८) में भी प्राप्त होता है। वहाँ[6] उस वृक्ष को जानने की इच्छा

(१) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 316 (आ० ३६)
(२) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCIII, 317 (आ० ३७)
(३) MIC, Plate CXVI, 1 (आ० ३८)
(४) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCIX, A Plate XCIV, 430, (आ० ३८)
(५) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate XCI, 25 (आ० ३९)
(६) क:स्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसोयं तौग्रयो नाधितः पर्यषस्वजत्। पर्णा मृगस्य पतरोरिवारभे उदश्विना ऊहथुः श्रोमताय कम्। तद् वां नरा नासत्यावनुष्याद् यद् वां मानास उक्थमवोचम् (ऋ १, १८२,७-८)

प्रकट की गई है जो 'अर्णस' के मध्य में स्थित है और जिसका तौग्र्य ने परिष्वजन किया (परिषस्वजत्) है; इसी प्रसंग में एक ऐसे मृग का भी उल्लेख है जिसके पत्तों के समान किसी व्यक्ति को अश्विनौ ले आते हैं और कुछ ऐसे व्यक्तियों (मानासः) की ओर संकेत है जो अश्विनौ की स्तुति, संभवतः इसी कार्य के लिये करते हैं। स्पष्ट है कि सिंधुघाटी के मुद्राचित्र में चित्रित पीपल-वृक्ष ही ऋग्वेद का रहस्यमय वृक्ष है और उसमें परिवेष्टित पुरुष ही तौग्र्य है; इसी प्रकार वहाँ के मेष को ऋग्वेद का मृग तथा उसके सामने झुका पुरुष ही ऋग्वेद का वह व्यक्ति है जिसे अश्विनौ ले आते हैं। मुद्राचित्र के सप्त पुरुष ही ऋग्वेद के 'मानासः' समझे जा सकते हैं। यहाँ पर तौग्र्य तृतीय पुरुष प्रतीत होता है जिसके लिये अश्विनौ (ज्ञ और अज्ञ पुरुष) मानव-शरीररूपी नाव (प्लवं) बनाते हैं जिसको 'आत्मन्वन्तं पक्षिणं'[1] (आत्मा से युक्त पक्षी) कहा गया है। इस नाव की तुलना सिन्धुघाटी[2] के (आ० ४०) उस मयूर-चित्र से कर सकते हैं जिसके भीतर एक पुरुष (आत्मा) की आकृति भी दिखाई गई है। जठल (जठर[3]) की जो चार[4] नावें अश्विनौ द्वारा प्रेरित होकर इस तौग्र्य को अर्णव से पार करती हैं वे संभवतः आनन्दमय पुरुष के क्रमशः विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय कोश हैं जिनका वर्णन तैत्तिरीय-उपनिषद्[5] में पक्षधारी पुरुषों के रूप में किया गया है। षड्विंशब्राह्मण[6] के अनुसार पुरुषरूप आत्मा (इंद्र) के पूर्व पक्ष और अपर पक्ष को ही इंद्र के हरी कहा जाता है और अन्य ब्राह्मणों के अनुसार भी इन्हीं पक्षों के कारण आत्मा को पक्षी[7] भी कह सकते हैं। हड़प्पा[8] से प्राप्त अस्थि-कलशों पर एक उकार चित्रित होता है जिसको ऊपर आत्म-ज्योति का प्रतीक बताया गया है। उसके ऊपर बने हुये मयूर

(१) युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्तं पक्षिणं तौग्र्याय कम्। (१, १८२, ५)
(२) Madho Sarup Vats, Excavations at Harappa, Plate LXII 2.
(३) तु० क० अग्निर्वै देवानां जठरम् (तै० २,७,१२,३) मध्यं वै जठरम् (श० ७,१,१,२२) इससे स्पष्ट है कि जठर की नावें आन्तरिक वस्तुयें हैं।
(४) अवविद्धं तौग्र्यमप्स्वन्तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिताः पारयन्ति (१, १८२, ६)
(५) तै० उ० २, २–६।
(६) पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इंद्रस्य हरी। ताभ्यां हीदं सर्वं हरति (ष० १, १)
(७) श० १, १, ६; ८,७,२, ३; तां० ६, ४, ८; ऐ० २, २४; तै० १, ६, ३, ६०.
(८) देखिये K.N. Sastri, New Light on the Indus Civilization, Vol. II पृ० १५–२०।

पक्षियों से प्रकट है कि इस आत्म-ज्योति को वहन करने वाले अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश ही पक्षीरूप नाव कहे जाते थे जिनका आश्रय लेकर आत्म-ज्योति मृत्युरूपी अर्णव को पार करके पुनर्जन्म प्राप्त करके अन्य स्थूल शरीर को ग्रहण करती थी। आत्म-ज्योति के साथ उसके कर्तृपक्ष और ज्ञातृपक्ष संभवत: सूक्ष्मरूप में सर्वथा संयुक्त माने जाते थे; यही अश्विनी अथवा इंद्र के हरी हैं जो उसको ले जाने वाले हैं और इन्हीं के प्रतीकस्वरूप दो सग्रीव एक-शृंगी शिर चित्र ८ के वृक्ष पर दिखाये गये हैं। अत: ये दोनों शिर उसी आत्मज्योतिरूपी अश्व अथवा अज[1] के माने जा सकते हैं जिसका उल्लेख ब्राह्मणों और उपनिषदों में वृक्षरूप में भी प्रस्फुटित होता[2] बताया है।

अश्वत्थ-वृक्ष

इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि मानव-शरीर ही वृक्ष है और उसमें परिवेष्टित पुरुष आत्मा का एक रूप है जो कर्मेन्द्रियों ज्ञानेन्द्रियों के सन्दर्भ में अज्ञ(कर्ता)तथा ज्ञ(ज्ञाता)रूप में द्विविध हो जाता है। यह वृक्ष स्वयं प्रकृति-निर्मित है और पुरुष के द्विविध रूपों को अन्नवित्तरूपा भोग-सामग्री प्रस्तुत करता है जिसे वृक्षों के पत्तों के रूप में दिखाया जाता है। क्रिया और ज्ञान दोनों के लिये इच्छा-शक्ति की अनिवार्य आवश्यकता होती है, अत: कर्ता और ज्ञाता के संयुक्त रूप को तृतीय पुरुष (इंद्र या प्राण) माना गया है जो उक्त वृक्ष द्वारा परिवेष्टित रहता है और उपनिषद् के अनुसार अपने में इंदु और आप: को समाविष्ट किये हुये हैं। प्रकृति पुरुष के लिए वरुणत्व भी देती है और वृत्रत्व भी। वरुण-रूप में वह सहायक है और वृत्र-रूप में आवरक या बाधक होकर बंधन पैदा करती है। वृत्ररूप से प्रभावित होकर पुरुष के कर्ता और ज्ञाता-पक्ष परस्पर संघर्ष करते हैं (कौरव-पांडव का युद्ध होता है) इन दोनों के प्रतीक दो चीते हैं जिनका दमन करने में आत्मा (तृतीय पुरुष) भी तभी समर्थ होता है जब वह अपने शिर पर सूर्य का तेज धारण करता है, जैसा कि एक मुद्रा[3] चित्र में दिखाया गया है। इसका कारण है कि सूर्य-तेज परमात्मा की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का प्रतीक है जिसको प्राप्त करके ही आत्मा वृत्र को अपना दास बना कर अपना सहयोगी बना लेता है। एक अन्य चित्र[4] में इसी विचार को व्यक्त करते

---

(१) ऐ० ब्रा० १०, ६, ४, १; १, ४, १, ३० इत्यादि।
(२) यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिन् शाखा: प्ररोहेयु: पलाशानि (छा० उ० ५, २, ३)
(३) MFE.' Plate LXXXIV, seal 75.
(४) वही, Plate CI, seal 1—ab.

एक संश्लिष्ट वर्ण प्रस्तुत किया गया है जिसमें 'अन' शब्द के ऊपर वृत्र और दायें बायें 'वरुण' सूचक अपद्वय तथा मन सूचक मकारद्वय लिखा है। वृत्र का सहयोग प्राप्त कर लेने से वृत्र के प्रतीक गेंडा और चीता शांत होकर खड़े हैं; इसी बात को संकेत करते हुए तृतीय पुरुष सम्भवतः अन्नमय पुरुष के प्रतीक गौर को चित्र में शान्त करते हुए नांद में रखे पेय को पिला रहा है। यह तुरीय पुरुष ही ब्राह्मण-ग्रंथों का प्रजापति[1] (अग्नि)[2] है जो अश्व (प्राण या इंद्र) होकर वृक्ष में प्रवेश करता है और जिसके फलस्वरूप इस वृक्ष को अश्वत्थ कहा जाता है। शरीर-वृक्ष में प्रविष्ट हुये इस अश्वरूप प्रजापति में सभी देवता[3] समाविष्ट हैं और इसीलिए अश्व को वैश्वदेव[4] कहा जाता है और इस रूप में अग्नि सब देवों तक यज्ञ को वहन करने वाला कहा जाता[5] है। इस प्रकार इसी को शक्ति से शरीरस्थ इन्द्रियादि देवता शक्तिमान् होते हैं।

अश्वत्थ-वृक्ष की गौ

प्रजापति की जो शक्ति अश्वत्थ-वृक्ष (शरीर) के देवताओं को शक्तिमान् करती है उसका नाम गौ है। प्रजापति[6] उसका निर्माण प्राणों की सहायता से करता हैं। यह गौ अजस्र सोमरूप (श० ७, ५, २, १९) होने से सब देवताओं को शक्ति का स्रोत है और वैश्वदेवी[7] कहलाती है। यह गोरूप शक्ति ही इंद्र-रूपी आत्मा का वज्र है जिसे सूर्य-लोक से प्राप्त हुआ बताया जाता है और जो प्रत्येक शरीररूपी वृक्ष में नियत गौ होकर पुरुष (आत्मा) को खाने वाले पक्षियों के लिये भयहेतु[8] बना हुआ है। ब्राह्मणग्रंथों[9] के अनुसार गौ के द्वारा ही देवों ने असुरों का संहार किया था। सिंधुघाटी में भी एक ऐसा ही पशु है ज शरीरगत सब देवों को मिलाने वाला, उनको शक्ति देने वाला तथा उनके

---

(१) प्रजापतिर्देवेभ्योऽनिलायत। अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वस्याश्वत्थम् (तै० ३, ८, १२, २)

(२) तै० ३, ८, १२, २.

(३) अश्वे वै सर्वा देवता अन्वायत्ताः (तै० ३, ८, ७, ३)

(४) वैश्वदेवो वा अश्वः (श० १३, २, ५, ४; तै० ३, ९, २, ४; ३, ९, ११, १)

(५) अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति (श० १, ४, १, ३०)

(६) प्रजापति प्राणात् गाम् (निरमिमीत) श० ७, ५, २, ६.

(७) वैश्वदेवी वै गौः (गो० उ० ३, १९)

(८) ऋ० वे० १०,२७, २१–२२।

(९) तां० ब्रा० १६; २, २–३।

शत्रुओं का विनाश करने वाला है। एक मुद्राचित्र[1] में एक ओर तो संभवतः उसके द्वारा मारे गये चीतों (वृत्रों के प्रतीक) का ढेर पड़ा दिखाया गया है और दूसरी ओर पशुओं के रूप में चार वृत्रों को उसके द्वारा आतंकित किया हुआ-सा दिखाया गया है। एक अन्य मुद्राचित्र[2] में यही पशु छः अन्य पशुओं को अपने सींगों, पैरों और पूंछ द्वारा मिलाता हुआ-सा दिखाया गया है। इस पशु का आकार एक महागोधा जैसा है जिसके सींग सिंधुघाटी के उस महावृषभ जैसे हैं जो विश्वरूप ब्रह्म[3] का प्रतीक होता है। सिंधुघाटी की यह गोधा ऋग्वेद[4] की उस गोधा को याद दिलाती है जो उक्त गौ की भांति ही इन्द्र के वज्र का प्रतीक है और जिसके संदर्भ में बद्धनख सुपर्ण, अवरुद्ध सिंह तथा निरुद्ध महिष तथा एक क्षुरनामक हिंसक पशु का उल्लेख हुआ है जो ब्रह्म (प्रजापति) के अन्नों के साथ हिंसा का व्यवहार करते हैं और वृषभों के समूह को खा जाते हैं। निस्संदेह ये चार पशु ब्रह्म के शत्रु होने के कारण वृत्रों के प्रतीक कहे जा सकते हैं और ये गोधा द्वारा उसी प्रकार आतंकित कर दिये गये हैं जिस प्रकार सिंधुघाटी के मुद्रा-चित्र में। दोनों चित्रों के ब्यौरों में यद्यपि कुछ अंतर है, परन्तु आधारभूत कल्पना एक ही प्रतीत होती है।

गोधा और महिष

मोहेनजोदरो से प्राप्त एक मुद्राचित्र[5] में उक्त गोधा एक चतुर्भुज के भीतर तीन पुरुषाकृतियों और गेंडे के साथ स्थित है और चार अन्य पशुओं को अपने में मिलाती हुई-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार के एक अन्य चित्र[6] में, एक ओर तो गोधा संभवतः पूर्वचित्र के तीनों पुरुषों और तीन पशुओं को आत्मसात् कर चुकी है और दो अवशिष्ट पशुओं को आत्मसात्-सा कर रही है; दूसरी ओर एक विचित्र आकृति है जिसमें एक वृत्ताकार आकृति में से चारों ओर को

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCII, seal 10 (आ० ४१)
(२) वही Plate CIII, seal 16 (आ० ४२)
(३) इस पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा।
(४) १०, २८, १०–११।
(५) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate LXIX, seal 23 and CIII, seal 16 (आ० ४२)
(६) वही, Plate XCII, seal 2a and 2b (आ० ४३)

निकलती हुई-सी सात गर्दनों में से केवल एक पर एकशृंगी पशु का शिर है और साथ में उक्त सात गर्दनों के अतिरिक्त एक गोधा का द्विशृंगी शिर भी दिखाया गया है जिनकी पहिचान के लिये एक उकार और एक वकार लिख दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस समष्टिवर्ग में पूर्व चित्र के पाँच पशु और तीन पुरुष समवेत होकर एकशृंगी पशु और गोधा की अद्वैत इकाई बन गये हैं और इन्हीं दोनों की ओर संकेत करने के लिये इंद्र नामक आत्मज्योति-सूचक उकार और उसकी शक्ति (वरुण) का द्योतक वकार लिख दिया गया है। अतः यह इन्द्रावरुण का प्रतीक है जिसकी तुलना परवर्ती शिवशक्ति-तत्त्व से की जा सकती है। इंद्रावरुण का अद्वैत तत्त्व किस प्रकार वरुण (शक्ति) के प्रभाव से अनेकत्व ग्रहण करता है उसको बतलाने के लिये, एक मुद्राचित्र[१] पर एक ओर वरुण-सूचक वकार लिखा हुआ है और दूसरी ओर एक हाथ बढ़ाये हुये ऊपर उड़ते हुये-से पुरुष का स्वागत करते हुये दो खड़े व्यक्ति दिखाये हैं। इनके पास ही चार संपुट अकार परस्पर जुड़े हुये हैं और उन सब में से होकर एक रस्सी-सी गई हुई है। स्पष्ट है कि ये तीन पुरुष वही हैं जिनको ब्राह्मणों में वाङ्मय, मनोमय तथा प्राणमय पुरुष कहा है और जिनकी ज्योति को क्रमशः अग्नि, आदित्य (वायु) और इंदु कहा है; इनके पास स्थित चार संपुट अकार संभवतः वे चार पशु हैं जो ऊपर चित्र में गोधा से जुड़े हुये अथवा आत्मसात् हुये बताये गये हैं और उनमें से होकर जाने वाली रस्सी शक्तिरूपा गोधा अथवा वरुण की प्रतीक है जो उक्त तीनों पुरुषों को इन चार संपुट अकारों में बाँधकर उक्त चार पशुओं (पाशबद्धजीवों) में परिणत कर देती है। यह सारा खेल वरुण का ही है; इसीलिये वहां वकार अंकित कर दिया गया है।

यह वरुण (शक्ति) ही वृत्र रूप धारण कर सकती है और उक्त तीनों पुरुषों को पाशबद्ध पशु बनाने के स्थान पर छिन्न-भिन्न या नष्ट-भ्रष्ट कर सकती है। इसका संकेत एक अन्य[२] मुद्राचित्र से प्राप्त होता है। इसमें एक ओर वृत्रसूचक चिह्न बना है और दूसरी ओर पूर्व चित्र के चार सम्पुट अकारों में से एक के दो टुकड़े हो चुके हैं और दूसरे से रस्सी आधी जा चुकी है तथा अन्य दो में रस्सी अभी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सारा चित्र उड़ते हुए पक्षियों

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, Plate XCII, seal 1a-b.

(२) वही, plate XCI, seal 12 (आ० ४४)

से भरा है जिन्होंने सम्भवतः तीन में से एक (ऊपर स्थित) पुरुष को खा डाला है और अन्य दो पुरुषों को क्षतविक्षत कर डाला है। इन उड़ते हुए पक्षियों को देख कर ऋग्वेद[1] के उन पुरुषाद पक्षियों की याद आ जाती है जो शरीर-रूपी वृक्ष में 'नियत गौ' के शब्द को सुन कर भाग जाते हैं। यहाँ नियत शब्द सार्थक है; सम्भवतः आत्मशक्ति का एक रूप अनियत भी अभिप्रेत था—एक में वह सर्वथा आत्मा के वश में रह कर संयत अथवा नियत गौ बन कर वरुण है और दूसरे में वह सर्वथा असंयत होकर वृत्र बन जाता है। पहले रूप में वह वशी आत्मा की वशा[2] गौ बन कर सोम (आनन्द) और घृत (ज्ञान-ज्योति) का स्रोत[3] बनती है और यज्ञ एवं सूर्य को ग्रहण तथा धारण करने में समर्थ हो सकती[4] है। परन्तु दूसरे रूप में, वरुण को संयम-रज्जु[5] दुरिष्ट-शमन[6] और स्विष्ट-रक्षा[7] को असम्भव देख कर पाप-पाश[8] के रूप में बदल जाती है जिससे आबद्ध होकर जीवात्मा वृत्र का शिकार बन जाता है—वशा अमृत से मृत्यु में बदल जाती है[9]। इसी कल्पना को मोहेनजोदरो के एक मुद्राचित्र[10] में मूर्तिमान् किया गया है। वहाँ मृत्यु को एक महिष के रूप में दिखाया गया है जिसके द्वारा पछाड़े हुए दो पुरुष पृथ्वी पर और कम से कम तीन अन्तरिक्ष में झूल रहे हैं। इसके विपरीत एक अन्य चित्र[11] में यही मृत्यु-प्रतीक महिष पालतू पशु हो गया है और उसके सामने कुंड रक्खा है जिसका पेय पीने के पश्चात् वह तृप्तिभाव से शिर ऊपर उठाए हुए है। इसी कल्पना को व्यक्त करते हुए, चित्र के ऊपर समस्तवर्ण 'वृत्रापद्वय-अन' के साथ निर्माण-सूचक 'मा' लिखा है।

(१) वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्रपतान् पुरुषादः (१०, २७, २२)
(२) युधः एकः संसृजति यो अस्या एक इद्वशी (अ० वे० १२, १०, २४)
(३) सोममेनामेकं दुदुहे घृतमेक उपासते (वही १२, १०, २३)
(४) वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णत् वशा सूर्यमपारयत् (वही १२, १०, २५)
(५) वरुण्या वै यज्ञे रज्जुः (श० ६, ४, ३, ८; १, ३, १, १४)
(६) वरुणेन दुरिष्टं (शमयति) तै० १, २, ५, ३।
(७) वरुणः स्विष्ट (पाति) ऐ० ३,३९,७,५।
(८) तै० ३, ३, १०, १; श० ६, ७, ३, ८; वरुणो वा एवं गृह्णाति यः पाप्मना गृहीतो भवति श० १२, ७, २, १७; २, ५, २, १०; ५, २, ४, १३; अनृते खलु, वै क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति (तै० १, ७, २, ६)
(९) वशामेवाऽमृतामाहुर्वशां मृत्युमुपासते (अ०वे० १२, १०, २६)
(१०) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, plate XCVI, seal 510 (आ० ४५)
(११) वही, plate XCVII, seal 587 plate C, seal E (आ० ४६)

इसका अभिप्राय है कि अब वृत्र दोनों 'समुद्रों का जीवन' रूप महिष बन गया है अर्थात् अब आत्मा ने मृत्यु-महिष को दास बना लिया है और अब वह मृत्युञ्जय है।

ओंकार-भेद

इस मृत्यु-महिष को जीतने अथवा मारने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि पहले वह जिध्वंसविरत हो, जैसा कि चित्र[1] में 'वृत्रद' नामक महिष से प्रकट है। इसका मार्ग अनेकशः बिखरी हुई आत्मज्योति को त्रिवृत करके एकत्रित करने में निहित है; इसी भाव को चित्र[2] में व्यक्त किया गया है। यहाँ मुद्रा त्रुटित होने से जो ऊपर अवशिष्ट लेख प्राप्त है उसमें 'त्रिवृत इंदु' लिखा है और नीचे वही 'एकत्रित' का चिह्न बना है जो आकृति ८ में है। एकत्रित आत्मज्योति या अग्नि त्रिवृत से अत्रि बन जाती है जिसका प्रतीक भाला या तीर है जो इस चित्र में महिष पर गिरते हुए दिखाया गया है।

इस तीर को मृत्यु-महिष पर छोड़ने से पूर्व एक मृग पर छोड़ना पड़ता है। आकृति[3] ४६ में तीन पुरुषों को एक साथ शर-सन्धान करते हुए और मृग को वेधते हुये दिखाया गया है। यह सम्भवतः वही तीन पुरुष हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है और इन्हें जो मृग मारना है वह कामासक्त मन हो सकता है। जिस धनुष से तीर छोड़े जा रहे हैं वह शतपथ ब्राह्मण का वार्त्रघ्न धनुष[4] है जिसके द्वारा लक्ष्यवेध होने पर ही ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में स्थित सारे विघ्न (वृत्र) समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् इसी धनुष[5] को लेकर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ 'औपनिषदं महास्त्रं शर' तल्लीनता-पूर्वक (तद्भावगतेन चेतसा) अक्षर ब्रह्मरूपी लक्ष्य पर छोड़ा जाता है;

---

(१) Mackay, Further Excavations at Mohenjodaro, plate XCIX, seal 663 (आ० ४७)

(२) वही, LXXXVIII, seal 279 (आ० ४८)

(३) वही plate XCI, seal 24 (आ० ४६)

(४) श० ५, ३, ५, २७।

(५) धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासनिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (मु० उ० २, ३-४)

यहाँ प्रणव धनु है, आत्मा शर है और ब्रह्म उसका लक्ष्य है जिसको वेधने के लिए तन्मयता आवश्यक मानी गई है। वस्तुतः इस शर का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म[१] है जो स्वयं प्राण, वाक् तथा मन-रूप में त्रिवृत् है। अतः यह शर भी त्रिवृत् होता है और इसी को ब्राह्मण-ग्रंथों में समृद्ध वज्र कहा गया है[२]। इसी शर के चलने से वृत्र (माया या अज्ञान) का आवरण छिन्न-भिन्न होकर ज्योतिर्द्वय के प्रतीक दो उकार प्रकट हो जाते हैं और वृत्र का आवरण एकादशी अन्नवित्तसमष्टि में बदल कर मानवात्मा के लिए सहायक हो जाता है। इसी विचार को एक मुद्राचित्र[३] में व्यक्त किया गया है। इस चित्र के ऊपर एक ओर 'उकारद्वयाग्नि' लिखा है और दूसरी ओर 'एकादशान्न समष्टि' है; इन दोनों के बीच में एक समाधिस्थ व्यक्ति के शिर से नाक की सीध में एक ऊर्ध्वमुख तीर दो उकारों के बीच में से निकलता हुआ दिखाया गया है। इसकी तुलना एक दूसरे चित्र[४] से कर सकते हैं जिसे विद्वानों ने महायोगी अथवा पशुपति कहा है और जो प्रथम योगी से निम्नलिखित बातों में भिन्न है—

(१) प्रथम चित्र में जो शीर्षस्थ उकार-द्वय दिखाये गये हैं उनको तीर ने एक दूसरे से पृथक् कर दिया है, जब कि दूसरे में दोनों उकार परस्पर संयुक्त होकर वृत्र-महिष शृंगों के समान हो गये हैं और दोनों के सन्धि-स्थानों पर जो दृढ बन्धनयुक्त वर्म दिखाई पड़ता है वह दोनों शृंगों, बाहुओं, आँखों, कानों आदि से लेकर समस्त मुख-मण्डल, वक्षस्थल तथा पेट पर भी दिखाई पड़ता है।

(२) जो महिष-शृंग-योजना शिर पर दिखाई गई है, उसी का लघुरूप शरीर के अधोभाग में भी दिखाया गया है, जब कि प्रथम चित्र में इसका सर्वथा अभाव है।

---

(१) तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तद् वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि (मु० उ०, २, २)

(२) वज्रो वै शरः श० ३, १, ३, १२; ३, २, १, १३; त्रिवृत् वै वज्रः कौ० ३, २, १२,२ तु० क०।

(३) Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro, plate LXXXVII, seal 222 (आ० ५०)

(४) MIC. Vol. I, Pl. XII,17; Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro. XCIV, seal 420; plate C, F (आ० ५१)

(३) अधोभाग में स्थित महिष-शृंग-योजना के ठीक नीचे एक और प्रतीक है जिसका ऊपरी भाग सिंधुघाटी का वरुण सूचक 'व' है और निचला भाग वृत्रसूचक चिह्न है, जबकि प्रथम चित्र में यह बिलकुल नहीं है।

(४) इस चित्र में सिंहासन के नीचे दो मृग हैं और तथाकथित पशुपति के इधर-उधर क्रमशः चीता, हाथी, गेंडा और भैंसा दिखाये गये हैं। प्रथम चित्र में सभी पशु गायब हो गये हैं और बाहुओं को छोड़कर अन्यत्र का समस्त आवरण भी समाप्त हो गया है।

(५) चित्र के ऊपर लेख है 'वृत्राग्निशुनौ प्राणान्नौ इन्द्रेन्दू'। जिसके विपरीत प्रथम चित्र का लेख है "उकारद्वयाग्नि एकादशान्ना"।

वषट् और वृषट्

इस तुलना से स्पष्ट है कि उक्त दोनों चित्रों का विषय एक नहीं है। जहाँ दूसरे चित्र में इंद्र और इंदु (प्राण एवं अन्न) वृत्राग्नि के कुत्ते बनकर (संभवतः दो मृगों के रूप में) अपने को वृत्रान्न से अभिन्न मानते हुये चीता, हाथी, गेंडा और भैंसे के साथ एक ऐसे मानवशरीर की चौकीदारी कर रहे हैं जो नीचे से ऊपर तक सुदृढ़ आवरण से ढका हुआ है। वहाँ प्रथम चित्र में उकारद्वय (पुरुषद्वय) की अग्निज्योति अन्नसमष्टि से अपने को पृथक् मानती है। ऊपर और नीचे महिषशृंगयोजना द्वारा इस आवरण को संभवतः वृत्र ने मुहरबन्द कर दिया है। उस पर भी वरुण के संकेताक्षर व के नीचे वृत्र के संकेताक्षर वृ को लिखने का अभिप्राय संभवतः दुहरी मुहरबंदी है। यहाँ मानवशरीर को वृत्र ने अथर्ववेदवर्णित 'अष्टचक्रा नवद्वारा' देवपुरी अयोध्या के स्थान पर एक बंदीगृह बना दिया है जिसकी तुलना ऋ० ४, २७ के उस बंदीगृह से की जा सकती है जिसमें वामदेव अपने को 'शत आयसी' पुरों से आवृत और अनेक चौकीदारों से घिरा हुआ पाता है। ऐतरेय[१] उपनिषद् के अनुसार इस वन्दीगृह का बन्दी वामदेव आत्मा ही है जो श्येनरूप में बड़े वेग से आखिर निकल भागता है। सिन्धुघाटी के एक अन्य मुद्राचित्र[२] में इस बन्दी को श्येनरूप में भाग निकलने के लिये एक दूसरी कल्पना को मूर्त रूप दिया है। वहाँ एक रज्जुवेष्टित लट्ठे (जिसको यूप कहा जा सकता है) के पास एक सुन्दर पुरुष खड़ा है जिसके शरीर के चारों ओर शिथिल होता हुआ सा रज्जुबन्धन है और

(१) ऐ० उ० २, ५।
(२) Madho Sarup Vats Excavations at Harappa, plate XCIII, seal 318 (आ० ५२)

उसके शिर से सवेग उड़ता हुआ एक श्येन निकल रहा है। उसके हाथों में वरुण-सूचक वकार सम्भवतः वरुण-कृपा के द्योतक हैं। इसको देख कर ऐतरेय-ब्राह्मण में वर्णित शुनःशेप की याद आती है जो यूप से बँधा हुआ वरुण से अपनी बंधन-मुक्ति के लिये प्रार्थना करता है जो अन्त में स्वीकार होती है, यद्यपि वहाँ किसी श्येन का उल्लेख नहीं है। उक्त मुद्रा-चित्र के दूसरी ओर 'अपंच वृत्र वषट्' लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि तथाकथित पशुपति के चित्र में मानव-शरीर जिस दुर्भेद्य आवरण से युक्त दिखाया गया है उसमें महिष-शृंगों की दो जोड़ियों के अंतर्गत चार वकारों में वृकार से संयुक्त वकार को मिलाने से पंचवृत्रीय वकार माने जाते थे। प्रस्तुत चित्र में इन वृत्रीय वकारों का लोप होकर उनके स्थान पर षट् वकार आ गए हैं जिनमें से चार तो शीर्षस्थ श्येन के नीचे-ऊपर हैं और दो, जैसा कि बतलाया जा चुका है, दोनों हाथों में आ गये हैं। इस प्रकार 'वषट्' (षट् वकार) का निर्माण हो गया है; इसी वषट्कार[1] का प्रतीक ब्राह्मण-ग्रंथों में वज्र माना गया है, क्योंकि वषट् करते हुए जिस शत्रु (वृत्र) का ध्यान किया जाता है उसी पर वज्र[2] गिरता है। इससे स्पष्ट है कि जो ध्यान-योग की कल्पना शर या वज्र के प्रतीक में ऊपर देखी गयी वही यहाँ वषट्कार द्वारा व्यक्त की गई है।

इस वषट्कार की कल्पना एक अन्य मुद्राचित्र[3] में एक विशिष्ट प्रतीक द्वारा व्यक्त की गई है। वहाँ पर योगासन में बैठे पुरुष के शिर पर एक वकारात्मक (सिन्धुघाटी लिपि) आकृति की टोपी है जिससे निकलते हुए पुछल्ले में छः छोटी-छोटी रेखायें उक्त वकार-समेत वषट्कार बनाती हैं। इस वषट्कार के ऊपर तीन घुंघराले से सींगों का बना एक मुकुट है जिसमें ९ बिन्दु बने हैं। इस प्रकार वषट्कार-समेत मुकुट द्वारा एकाक्षरी ओंकार का ऊ सा बन जाता है; इसके ऊपर बना हुआ दो का अङ्क सम्भवतः ओंकार के अवशिष्ट दो अक्षरों (अ और म) के द्योतक हैं जिनके बिना ब्राह्मण[4]-ग्रंथों में वह इस लोक-सम्बन्धी 'शुद्ध-प्रणव' कहलाता है और जिनके सहित मकारान्त ओंकार परलोक से सम्बन्धित है। सिन्धुघाटी के ओंकार में जो नौ बिन्दु दिए गए हैं वे

(१) वज्रो वै वषट्कारः (ऐ० ३, ८; कौ० ३, ५; श० १, ३, ३, १४; गो० उ० ३, १, ५)
(२) वज्रो वा एष यद् वषट्कारो, यं द्विष्यात्तं ध्यायेद्वषट्करिष्यंस्तस्मिन्नेव वज्रमास्थापयति (ऐ० ब्रा० ३, ६)
(३) Mackay, Further Excavation at Mohenjodaro Pl. LXXXVII, 235 (आ० ५३)
(४) यन्नुद्ध प्रणवं कुर्वन्ति तदस्य लोकस्य रूपं, यन्मकारान्तं तदमुष्य लोकस्य (कौ० १४,३)

सम्भवत: उन नव वस्तुओं के सूचक हैं जिनसे प्रकृष्ट होने के कारण ओंकार 'प्रणव' कहलाता था। इस एकाक्षरी प्रणव के ऊपर एक ओर श्येन पक्षी को आकाश में उड़ता हुआ दिखाया गया है जिसके चारों ओर चार बिन्दु सम्भवत: चार दिशाओं के सूचक हैं और उसके नीचे सम्भवत: 'अ' विशेषण सहित अग्नि लिखा हुआ है। इस सारे विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस चित्र में आत्मारूपी अग्नि की वह सर्वोच्च अवस्था है जिसमें वह शरीररूपी अयोध्या-पुरी[२] के नौ द्वारों से परे भी स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ान कर सकता है और इसीलिए प्रणव कहलाता है। इसके विपरीत नव द्वारों तक सीमित रहने वाला ओंकार 'द्विवर्ण एकाक्षर' ओम् है जो सिन्धुघाटी में स्पष्टत: 'नव म नव[३] म इन्द्र य' कहा गया है।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

अब तक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होगा कि सिन्धुघाटी में केवल मानव-व्यक्तित्व के विविध पक्षों पर ही विचार हुआ है, और उससे बाहर किसी अन्य विषय पर कोई चर्चा नहीं हुई। यह बात यद्यपि अक्षरश: सत्य नहीं है, परन्तु जिस प्रकार परवर्ती भारतीय-दर्शन में 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का सिद्धान्त चला उसी प्रकार वह सिन्धुघाटी की विचारधारा का भी मूलमंत्र अवश्य रहा प्रतीत होता है। इसका अभिप्राय है कि मानव-देह के सादृश्य पर ही बाह्य जगत की भी कल्पना की गई। इसका सब से अच्छे उदाहरण वह 'अन्ना-दान' प्रतीक है जिसे मार्शल[४] ने धूपदान (Incense burner) और श्री केदार-नाथ शास्त्री[५] ने वेदी कहा है। हड़प्पा[६] के एक मुद्रा चित्र में एक ओर यह प्रतीक है और दूसरी ओर शीर्षक 'सवित्रेन्द्रजस्नजन' लिखा है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार मानव-देह में जस्न (यज्ञ) और इंद्र की कल्पना की गई वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी एक जस्न और सवित्रेन्द्र की कल्पना की गई है।

---

(१) अग्नि शब्द से पूर्व एक अक्षर है जो पूरी तरह से मुद्रा में नहीं आ सका है, परन्तु जो भाग आ सका है उससे वह अ अक्षर प्रतीत होता है।
(२) तु० क० अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
(३) Mackay, Further Excavaations at Mohenjodaro, plate LXXXVII, seal 240 (पटल ५)
(४) MIC. Vol. I. P. 69
(५) New Light on the Indus Eviligation Vol. I, p. 30
(६) MEH, plate XCIII, ३२० (आ० ५८)

एक अन्य मुद्राचित्र[१] में सूर्यमंडल से एक दंडाकार वस्तु पृथ्वी पर आती हुई दिखाई गई है और उस पर 'सवपन अन असि द्यु' लिखा है जिसका अभिप्राय है कि आकाश भी भूमि पर बीज-वपन करने वाला एक 'अन' है। इसकी तुलना अथर्ववेद के ब्रह्मचारीसूक्त[२] से की जा सकती है जहाँ द्यौ और पृथिवी के बीच एक ऐसे बृहत् शेप की कल्पना की गई है जो पृथिवी पर चारों प्रदिशाओं को जीवन देने वाले रेतस का सिञ्चन करता है। यही सम्भवतः पुराणों में शिव के उस महाज्योतिर्लिङ्ग का आधार बना प्रतीत होता है जिसके छोरों का पता ब्रह्मा और विष्णु भी नहीं लगा सके।

इसी प्रकार की कल्पना सिंधुघाटी के हस्ति-प्रतीक में भी मिलती है। मोहेन-जोदरो से प्राप्त कुछ हाथियों के ऊपर 'अन-अगिन्-मन[३], वृत्र-वषट्-मन-मान[४]' तथा अन्य[५] मनस्परक शीर्षक जहाँ व्यष्टिगत तथ्यों की ओर संकेत करते हैं, वहाँ 'हस्तिमान-अन'[६] जैसे शीर्षक ऐसे अन (जीवन-तत्त्व) को सूचित कर रहा है जो उक्त व्यष्टिगतपरक 'अन' की तुलना में हाथी के परिमाण का कहा जा सकता है। ऋग्वेद में भी जहाँ व्यष्टिगत तथ्यों के लिये अनेक स्थलों पर बहुवचनान्त[७] हस्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ समष्टिगत इंद्र के लिए एकवचन महाहस्ती[८] शब्द आया है। अन्न की कल्पना के प्रसंग में भी यही बात कही जा सकती है। सिंधुघाटी के लेखों में सात, ग्यारह और सोलह अन्नों का उल्लेख व्यष्टिगत तथ्यों के संदर्भ में ही हुआ है जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है, परन्तु जब एक मुद्रा पर हाथी के ऊपर 'शतान्न'[९] लिखा मिलता है तो उसको समष्टिपरक 'अन्न' का द्योतक मानना समीचीन प्रतीत होता है। प्रस्तुत मुद्रा की दूसरी ओर जं

(१) MEH., Plate XCIV, 341.
(२) अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥
(अ० वे० ११, ५, १२
(३) MFE., Plate XCVII, 590.
(४) वही, वही, 573.
(५) MIC., Plate CXII, 367, 369.
(६) MFE., Plate XCIX, 648.
(७) ऋ० ४, १६, १४; १, ६४, ७; ३, ३६, ७; ६, ८०, ५।
(८) आ तू न इन्द्रक्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सं गृभाय। महाहस्ती दक्षिणेन (ऋ० ८, ८१, १)
(९) MFE., Plate CII, seal 15—a and b.

पक्षिमुखी आकृति बनी है उस में उभरे हुये चार दंडाकार अंग जहाँ चार दिशाओं के सूचक हो सकते हैं, वहाँ उसका एकमात्र मानव-चरण चतुर्दिक् समष्टि की एकता का सूचक होकर ऋग्वेद के एकपात्[१] की याद दिलाता है जो एक स्थान (१०,११७,८) पर एकपात् से द्विपाद, त्रिपाद और चतुष्पाद होने वाला भी कहा गया है। सिंधुघाटी के ककुद्मान् महावृषभ भी इसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों के तथ्यों का प्रतीक है। एक[२] महावृषभ पर 'असि अम एकादश अन्न' लेख है, तो दूसरे[३] पर 'इंद्रवृत्राग्निषडान्न' लिखा है—इस प्रकार के शीर्षक निस्संदेह व्यष्टिगत अन्नों की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि १६ अन्नों या कलाओं तक व्यष्टि के अन्तर्गत ही समाविष्ट माने जाते हैं। परन्तु एक महावृषभ[४] के ऊपर 'अन' शब्द लिखा है और उसके चारों ओर एक-एक दंडाकार रेखा खड़ी करदी है तथा १ का अंक लिख दिया है। इससे स्पष्ट है कि यह महावृषभ चतुर्दिक् समष्टिगत 'अन' का प्रतीक है। इसी प्रकार 'चतुरग्नि'[५] अथवा चतुर्विध अत्रि[६] शीर्षक वाले महावृषभ भी समष्टिगत अग्नि या अत्रि के सूचक हैं। इस प्रकार के वृषभ की तुलना ऋग्वेद के 'भीम गो' शीर्षक से की जा सकती है जो इन्द्र के लिये (ऋ० ८, ८१, ३) हुआ है। जिस सत्य का यहाँ उल्लेख किया गया है वह 'अम' नामक ज्येष्ठ प्राण[७] है और हड़प्पा की उक्त मुद्रा के लेख में भी 'अत्रि अम वृख्श' कहकर उस पुरुषरूपी वृक्ष को 'अम' नाम ही दिया गया है जो उपर्युक्त 'अप' नामक ज्ञानमय कर्मजल से सिंचित होकर पल्लवित होता हुआ सा माना गया है। इसी 'ज्ञानमय कर्मजल' की कल्पना को मूर्तिमान् करने के लिए, कर्म तथा ज्ञान के प्रतीक सिंहद्वय को परस्पर लड़ने के स्थान पर, एक साथ नाचता हुआ दिखाया गया है और पुरुषरूपी वृक्ष-ठूंठ में हाथों और पैरों की स्थिति ऐसी रक्खी गई है कि दोनों ओर 'जन' शब्द लिख जाता है तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण के मिलने से प्रसिद्ध कर्मयोगी एवं ज्ञानी 'जनक' का नाम चित्रित हो जाता है।

---

(१) ऋ० २, ३१, ६; ६, ५०, १४; ७, ३५, १३; १०, ६४, ४; ६५, १३; ६६, ११; ११७, ८।
(२) MFE., Plate CII, seal 14—ab.
(३) वही, Plate XCVII seal 567.
(४) वही, Plate LXXXVIII, seal 310.
(५) वही, Plate LXXXV, seal 153.
(६) वही, Plate LXXXVIII, seal 322.
(७) अमो नामासि अमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयतु, अहमेवेदं सर्वं असानि (छा० उ०, ५, २, ६-७)

मुद्रा के दूसरे पार्श्व पर एक श्रृंगाररत स्त्री चित्रित की गई है जिसके सामने एक पुरुष अपने एक हाथ में दर्पण सा पकड़े हुये खड़ा है। इस पुरुष का दूसरा हाथ मुड़ा हुआ नकाररूप में उसके कटि-प्रदेश पर रक्खा हुआ है और उसमें एक 'जकार'रूप वस्तु है जो उक्त नकार तथा शीर्षस्थानीय 'क' वर्ण के साथ मिलकर पुनः 'जनक' शब्द की सृष्टि कर देता है। इस श्रृंगार-चित्र के पास जो उक्त पुरुषाकार समष्टिवर्ण बना है वह प्रथम समष्टिवर्ण के विपरीत इससे विमुख होकर जाता हुआ सा प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त नृत्यरत सिंहद्वय के प्रति पुरुषाकार समष्टिवर्ण की अभिमुखता जहाँ ज्ञानकर्मसमन्वय के प्रति अभिमुखता समझी गई है, वहाँ श्रृंगाररत स्त्री के प्रति उसकी विमुखता तथा 'जनक' की सेवाभावना का युगपत् चित्रण 'कमलपत्रमिवाम्भसा' के निर्लिप्त-भाव को व्यक्त करके विदेह जनक की कल्पना को मूर्त रूप देता है।

अस्तु ये दोनों ही पुरुषाकार समष्टिवर्ण व्यष्टिगत तथ्यों का ही चित्रण करते हैं और उनके वक्षस्थानीय दो संयुक्त मकारों पर शीर्षस्थानीय मकार मानव-व्यक्तित्व के मूर्धा और हृदय-तत्वों को ही व्यक्त करते हैं।

यथा देहे तथा देशे

परन्तु उक्त व्यष्टिगत समष्टिवर्ण में शीर्षस्थानीय मकार के स्थान पर वृत्त[1] चिह्न स्थापित करके एक ऐसे समष्टिवर्ण की सृष्टि हो जाती है जो समष्टिगत तथ्यों का द्योतक हो जाता है। परन्तु जिस समष्टि के तथ्यों का चित्रण यह समष्टिवर्ण करता है वह भारतवर्ष तक ही सीमित प्रतीत होती है। इसके वक्षस्थानीय दो संयुक्त मकार हिमालय के उस मानस-सरोवर के द्योतक हैं जिनसे भारत की आपद्वय, सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र निकलते हैं और उक्त समष्टिवर्ण के मकारद्वय से उद्भूत होने वाले अपद्वय (जो हाथों से लटकते दो घड़े से लगते हैं) इन्हीं दोनों सरिताओं सहित अरबसागर[2] और बंगाल की खाड़ी के प्रतीक हैं तथा इन दोनों मध्य में स्थित 'मेरुदण्डसहित दो पैर' हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक के संपूर्ण आयाम के और शीर्षस्थानीय वृत्र को मानस-सरोवर से परे उस बर्फीली-पर्वतमाला के विस्तार को माना जा सकता है जो समस्त जलराशि को मानों अपने आवरण में बन्दी बना कर रखता है। कहीं-कहीं[3] इस समष्टिवर्ण के साथ

(१) देखिये वर्णमाला के अन्तर्गत 'समष्टिवर्ण'।
(२) दोनों सागरों का पूर्व और अपर समुद्र के नाम से ऋग्वेद में भी उल्लेख मिलता है।
(३) MFE., Plate LXXXIV, 82.

३ का अङ्क रहता है और उसके साथ तीन दकारों को संयुक्त कर दिया गया है जिसका अभिप्राय संभवतः यह है कि यह समष्टिवर्ण तीन प्रदेशों के लिये लागू होता है; उक्त तीन दकारों का संयुक्त होना इस बात का सूचक है कि ये तीनों ही प्रदेश एक ही देश (भारत) के दकार में सम्मिलित समझे जाते थे। ये प्रतीक मोहेन-जोदरो से प्राप्त एकशृंगी पशु के ऊपर चित्रित है, इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त हस्ती तथा महावृषभ की भाँति एकशृंगी को भी व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के लिये प्रतीकरूप में प्रयुक्त किया जाता था। एक महावृषभ के ऊपर यह समष्टिवर्ण[1] ऐसा है जिसमें दाहिनी ओर के 'अप' में समुद्रसूचक प-वर्ण नहीं है और पास में वृद्ध इंद्र का दंडधारी प्रतीक बना है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतीक पूर्व-समुद्र-रहित भारत का प्रतीक था जिसका अधिष्ठाता वृद्ध इंद्र माना जाता था। इसके विपरीत अन्यत्र[2] एकशृंगी पशु के ऊपर लिखित 'हिंधु-मानन्-इंद्र' (युवा) के साथ तीन का अंक प्रकट करता है कि पश्चिमी भारत को हिंधु-देश कहते थे जो तीन युवा इंद्रों के प्रदेश में विभक्त माना जाता था। एक अन्य[3] समष्टिवर्ण में केवल उभय-समुद्र-सूचक पकार-द्वय-सहित अर्द्धदण्ड और लंका-द्योतक चरणयुगल दिखाये गये हैं और उसके साथ पांच का अंक है; इससे प्रतीत होता है कि यह प्रतीक केवल समुद्र-परिवेष्टित दक्षिण-भारत का सूचक है जिसके अन्तर्गत संभवतः पाँच भाग माने जाते थे। अन्यत्र[4] इस प्रतीक के साथ १ का ही अंक लिखा है जिससे उक्त पाँच भागों की एकता अभिप्रेत है। एक मुद्रा[5] पर एक ओर ५ के अंक से युक्त एक चतुष्कोण है जिससे निकलता हुआ एक नारियल का पेड़ खड़ा है; इस मुद्रा के दूसरी ओर 'सेन्द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र' लिखा है। अतः सम्भवतः यह दक्षिण भारत का उस समय नाम रहा हो, जिसमें से ऐन्द्रमैत्र अब भी आंध्र और मद्रास के नाम सुरक्षित हैं और नारियल का पेड़ भी दक्षिण भारत की विशेषता है। एकमुद्रा[6] पर वृत्रसेन्द्रवृद्ध' के साथ ११ का अंक यह सूचित करता प्रतीत होता है कि वृद्ध इंद्र के क्षेत्र (पूर्वी समुद्र-हीन भारत) को कुल ११ क्षेत्रों में विभक्त माना जाता था।

---

(१) MFE., Plate LXXXV, Seal 108.
(२) वही, वही, Seal 111.
(३) वही, वही, Seal 113.
(४) वही, वही, Seal 124.
(५) MEH, Plate XCIII, Seal 325.
(६) MFE, Plate LXXXV, Seal 121.

स्थितः पृथिव्या इव मानदंडः

उक्त ग्यारह क्षेत्रों के संदर्भ में ही संभवतः उक्त इंद्र-क्षेत्र को 'एकादशान्नदान'[1] कहा गया है और इस लेख के साथ जो समष्टिवर्ण है उसमें शीर्षस्थानीय मानस-सूचक मकार को एक ऐसे लम्बे दण्ड के मध्य में दिखलाया गया है जो पुरुष के फैलाये हुये दोनों हाथों के अतिरिक्त पूर्व से पश्चिम तक फैले हुये हिमालय की याद दिलाता है। इसमें उभय-समुद्र-सूचक दोनों 'अप' हैं और उत्तर से दक्षिणपर्यन्त आयाम का द्योतक 'अन' (मेरुदण्ड तथा चरण) बीच में कुछ भग्न से हो गये हैं जो मुद्रा की खराबी के कारण हैं। परन्तु ऐसे अन्य[2] अनेक समष्टिवर्ण भी हैं जिनमें इसी प्रकार का दण्डाकार हिमालय-प्रतीक पुरुषाकृति के फैले हुये भुजदंड-द्वय सा प्रतीत होता है। कालिदास ने जब कुमारसंभव में हिमालय को पूर्व और पश्चिम समुद्र में अवगाहन करता हुआ पृथिवी के मानदण्ड के समान कहा, तो संभवतः उसकी दृष्टि में यही समष्टिवर्ण रहा हो जिसमें मानदंडवत् आयाम से दो दंड निकल कर समुद्रद्वयसूचक घटाकार प-वर्णों तक पहुंचते हुये दिखाये जाते हैं।

इन्द्रावरुणौ सम्राजौ

अस्तु, उक्त समष्टिवर्ण एक दृष्टि से भारत राष्ट्रपुरुष का प्रतीक माना जा सकता है जिसके एक रूप में शीर्षस्थानीय मानस-सूचक मकार हिमालयरूपी दंडाकार वेमा (भुजदंडद्वय) पर स्थित है और उससे दोनों सिरों पर संलग्न 'अपद्वय' के रूप में दोनों समुद्र विद्यमान हैं तथा उन दोनों के बीच में, हिमालय से लंकापर्यंत भारत, 'अन' शब्द के रूप में, राष्ट्रपुरुष का मेरुदंड-समेत चरण-युगल बन जाता है। एक अन्य रूप में मानस-सूचक मकार के स्थान पर वृत्रचिह्न आ जाता है जो तिब्बत-समेत हिमाच्छन्न पर्वतप्रदेश का द्योतक प्रतीत होता है। मोहेनजोदरो से प्राप्त एक[3] महावृषभ का ऐसा चित्र भी है जिसके ऊपर दोनों प्रकार के समष्टिवर्ण हैं और साथ ही 'इनन्द्रावरुण' लेख भी है। यह लेख उन दो सम्राटों को याद दिलाता है जिन्हें ऋग्वेद[4] में दो महाव्रत तथा क्रमशः सम्राट्-

(१) MFE, XCVIII, Seal 628.
(२) MFE, Plate XCVIII, 602; 633; 639; 635; XCIX, 678.
(३) MFE, Plate XCVIII, 611.
(४) सम्राळन्यः स्वराळन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू (ऋ० ७,८२,२)

स्वराट् कहा गया है और जिनका नाम इंद्र एवं वरुण है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि उक्त दोनों समष्टिवर्णों में से वृत्रपरक वरुण का तथा मानसपरक इंद्र का प्रतीक है और सिंधुघाटी-परम्परा में भी इन्हीं दोनों देवों को संयुक्त रूप में, ऋग्वेद[1] के समान ही राष्ट्र का राजा माना जाता था। कोई भी वृत्र-परक समष्टिवर्ण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देवपक्ष का तभी द्योतक हो सकता है जब वह वषट् से युक्त हो जाय। अतः उक्त वृत्र-परक समष्टिवर्ण इंद्र के सायुज्य में राष्ट्राधिपति होने के लिये वषट्कार से युक्त ही माना जाता होगा; इसकी पुष्टि मोहेनजोदरो से प्राप्त 'वृत्रवषट् इन्द्र-अन-राष्ट्र' लेख[2] से होती है। इस लेख के नीचे एक शान्त दक्षिणावर्त चीता है जिसके सामने देवत्वसूचक वरुणपात्र रक्खा हुआ है। इस लेख में जो इन्द्र-चिह्न है वह दंडधारी वृद्ध इन्द्र का है जो समस्त भारतराष्ट्र का अधिपति माना जाता था और उसके सायुज्य में रहने वाला 'वरुण' अथवा 'वृत्रवषट्' समानार्थक थे, क्योंकि वषट् का अर्थ है 'वरुण के आधिपत्य में आये हुये 'षट् देव' इसीलिए एक मुद्रा पर 'मननवृत्रजस्नवृतान्न' लेख[3] के साथ दो पुरुष (जो इंद्रावरुण हो सकते हैं) मिलकर 'वषट्' को एक दंड (पृथिव्या इव मानदंडः) से बाँधकर कंधों पर लिये जा रहे हैं और उसी मुद्रा पर लेख के नीचे एक दक्षिणावर्त चीता अकारयुक्त प-वर्ण के सामने शान्तभाव से खड़ा है। वृद्ध इन्द्र तथा इन्द्रावरुण के राष्ट्र-संबन्धी लेखों की तुलना एक अन्य लेख[4] से भी की जा सकती है जिसमें 'शत[5] अन्नानि द्वादशाग्न्याग्नि भारत्रराष्ट्र' स्पष्ट अक्षरों में अंकित है और वरुणपात्र-सहित एक दक्षिणावर्त गौर युद्धोन्मत्त मुद्रा में खड़ा है। कम से कम दो अन्य मुद्राचित्रों पर 'भारत्र' शब्द का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक में गौर वृषभ के साथ 'शतान्नवत् नाम भरत्र[6]' तथा दूसरे में हस्ती के साथ 'मित्राश्वसरिर भारत्र[7] एकादश'

(१) आवां राजानावध्वरे ववृत्यां हव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः (ऋ० ७,८४,१) अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः (ऋ० ४,४२,२)

(२) MFE, Plate LXXXVIII, Seal 283.

(३) वही, Plate XCVI, Seal 518.

(४) वही, Plate LXXXV, Seal 129.

(५) तुलना कीजिए-शत षष्ठाऽग्नि MFE, Plate LXXXV, Seal 142.

(६) MIC., Plate CX; Seal 319.

(७) MEH., Plate XCI, Seal 227.

लेख मिलता है। यहाँ भारतराष्ट्र की अग्नि के साथ जिन शत अन्नों का उल्लेख हुआ है उन्हीं को हम ऊपर 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के प्रसंग में महाहस्ती के संदर्भ में भी देख चुके हैं; अतः या तो सिन्धुघाटी-परंपरा में 'शत अन्न' से असंख्य अन्नों का अभिप्राय होता था अथवा ब्रह्माण्ड एवं भारतराष्ट्र की समष्टि एक ही मानी जाती होगी। अस्तु, इतना तो निश्चित ही प्रतीत होता है कि भारतराष्ट्र के साथ शतान्न, इंद्रावरुण सम्राट् तथा वृद्ध इन्द्र की कल्पनायें संबद्ध मानी जाती थीं। एक महावृषभ[1] के चित्र पर राष्ट्रशब्द से पूर्व दो वर्ण अस्पष्ट हैं, परन्तु 'अन्ना' शब्द साफ दिखाई दे रहा है; संभवतः यह लेख भी भारतराष्ट्र के उक्त शतान्न की ओर ही संकेत करता हो।

भारतराष्ट्र के विभिन्न घटक

संभवतः शतान्न भारतराष्ट्र के अन्तर्गत अनेक इकाइयाँ थीं जिनको भी राष्ट्र कहा जाता था। वृत्रराष्ट्र[2] संभवतः तिब्बत-सहित समस्तहिमाच्छन्न पर्वतीय प्रदेश का नाम था; इसी की ओर वृत्रजन[3] एकादश वरुण, वृत्र एकादश,[4] वृत्रसेन्द्रवृत्रएकादशी,[5] वृत्रसीमाएकादश,[6] वृत्रसेन्द्राग्निराग्निवृत्रजनसेन्द्र,[7] तथा वृत्र-एकादशो[8], वृत्ररं-नर-अन-राष्ट्रदान[9], वृत्रएकादशाग्नि[10] एक अन्न तथा वृत्रमानस-पानपा[11] आदि अनेक मुद्रालेख संकेत करते प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार समस्त पश्चिमी भारत का नाम 'हिन्धु' प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त पूर्वी भारत संभवतः 'इरा'[12] कहलाता था और ऋग्वेद[13] में 'सिंधवः' और 'इरावतीः' नाम से जो नदियों का वर्गीकरण मिलता है वह संभवतः इसी तथ्य पर आधारित

---

(१) MFE., Plate LXXXIX, Seal 362.
(२) MEH, Plate LXXXIX, 124.
(३) MEH., Plate LXXXIX, Seal 110.
(४) MEH., Seal 146.
(५) वही, Seal 145.
(६) वही, Seal 139.
(७) MEH., Plate XCI, 241.
(८) वही, Plate LXXXVIII, 93.
(९) वही, वही, Seal 87.
(१०) वही, वही, Seal 78.
(११) वही, Plate LXXXIX, seal 166.
(१२) वही, Plate LXXXVII, seal 89.
(१३) इरावतीर्वरुण धेनवो वां मधुमद् वां सिन्धवो मित्र दुहे (ऋ० ५, ६९, २)

था। एक महावृषभ प्रतीक पर अंकित 'अनदमा'[1] का अर्थ 'प्राणों का दमन करने वाला' होता है जो वर्तमान अंडमान के 'कालापानी' लाँछन को याद दिलाता है, परन्तु यह आध्यात्मिक प्रतीक भी हो सकता है।

इसी प्रकार दक्षिण भारत के जिस क्षेत्र के विषय में नारियल वृक्ष के साथ 'सेन्द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र' लेख का उल्लेख ऊपर हुआ है, उसके घटकों में से कुछ के पृथक् नाम भी मिले हैं। एक महावृषभ-मुद्रा के ऊपर 'मैत्र'[2] शब्द है और दूसरी[3] पर सेन्द्र तथा तीसरी पर वृत्रैन्द्रमैत्र[4] महिषचित्रों के साथ लिखा मिलता है। बहुत संभव है कि उपर्युक्त 'मित्राश्वसरिर भारत्र एकादश' भी दक्षिण भारत के लिए ही आया हो, क्यों कि एक तो इस लेख के साथ हस्ती का चित्र है जो मैसूर में अब भी पकड़ा जाता रहा है; दूसरे सरिर-शब्द ब्राह्मण[5]-ग्रन्थों में 'सलिल' का रूपांतर है जो इस लेख में समुद्र-सलिल का संकेत करने के लिए प्रयुक्त हुआ हो सकता है। वैसे वैदिक साहित्य में सरिर-शब्द पुंलिंग और नपुंसक दोनों लिंगों में प्रयुक्त हुआ है जिनमें से शतपथ के अनुसार प्रथम का अर्थ वायु[6] तथा दूसरे का आपः[7] होता है। अतः यहाँ भी दक्षिण भारत का वायु तथा समुद्र दोनों ही अभिप्रेत हो सकते हैं।

ब्रह्मदेश या बर्मा

एक मुद्राचित्र[8] में एक विचित्र महिष है जिसके सिर पर सिंधु-लिपि के तीन उकार-सदृश चिह्नों को परस्पर संयुक्त करके तीन सींगों की रचना की गई है और उसके ऊपर जो लेख है उसमें भी 'वृम' शब्द के साथ उकार बना है जिसमें ३ का अंक लिखा है। हो सकता है कि यह 'वृम उ' वर्तमान वर्मा अथवा उसके 'जन' का सूचक हो और उसके साथ प्रयुक्त ३ का अंक उस देश अथवा उसके जनसमुदाय के किसी वर्गीकरण का सूचक हो। 'वृम' शब्द के साथ ३ का

(१) MEH., Plate XCI, seal 233.
(२) वही, 236.
(३) MEH., Plate XCI, 235.
(४) MIC., Plate CIII., seal 10.
(५) आपो वै सरिरम्, श० ७,५,२,१८; आपो इवा इदमग्रे सलिलमेवास, श० ११,१,६,१.
(६) अयं वै सरिरो योऽयं (वायुः) पवते (श० १४, २, २, ३)
(७) आपो वै सरिरम् (श० ७, ५, २, १८)
(८) MEH.; Plate XCI, seal 235.

अंक अन्यत्र[1] एकशृंगी पशु के ऊपर भी लिखा मिला है, परन्तु उसके साथ एक चिह्न और है जो अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। ब्रह्मदेश का तत्कालीन भारत के अन्तर्गत माना जाना असम्भव नहीं है, क्योंकि सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र-नामक नदियों सहित पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्रों के सूचक चिह्न उक्त समष्टिवर्णों के 'अपद्वय' में सम्मिलित हैं ही, और इसके अतिरिक्त वे स्वतंत्र रूप से भी प्राप्त हुये हैं। एकमुद्रा[2] पर दोनों ओर उक्त समष्टिवर्ण के समान ही दोनों समुद्रों को प-वर्णों से सूचित किया गया और उनसे संयुक्त दो अ-वण परस्पर मिलकर अर्द्धचन्द्रवत् होकर सिंधु एवं ब्रह्मपुत्र के सूचक हो गये हैं और उसके पास लिखा 'अन' शब्द इस प्रकार सिंधु-ब्रह्मपुत्र क्षेत्रीय भारत के उस प्राणिवर्ग का सूचक प्रतीत होता है जिसका प्रतिनिधिस्वरूप एक पशु 'गर्दभ' सा लेख के साथ चित्रित है। यदि 'वृम' वर्तमान ब्रह्मदेश के लिए ही उस समय प्रयुक्त होता था, तो उसमें उस समय वैदिक संस्कृति का प्राधान्य ही रहा प्रतीत होता है, क्योंकि 'वृम' शब्द के साथ लेखों में इंदु[3], अग्नि[4], जस[5] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। एक लेख[6] में 'नमन वृम मम' कहकर संभवतः इसी प्रदेश को नमस्कार किया गया है। एक मुद्राचित्र पर हाथी के साथ उपर्युक्त पुरुषाकार समष्टिवर्णों में से एक ऐसे ढंग से बनाया गया है कि उसमें दो समुद्र-सूचक घटों में से वामपक्षीय घट नहीं है; अतः संभवतः यह उस राष्ट्र-पुरुष का प्रतीक है जो पश्चिमी समुद्र (अरबसागर) रहित भारत का द्योतक हो; इसके अन्तर्गत स्वभावतः ब्रह्मदेश भी सम्मिलित होता होगा। इस हस्ती के ऊपर उक्त समष्टिवर्ण के अतिरिक्त 'जशनराष्ट्राग्निमान् मित्र' लिखा है और साथ में ३ का अंक भी बना है। यदि ब्रह्मदेश के साथ ३ के अंक की विशेषता का उपर्युक्त अनुमान ठीक है, तो इस चित्र से भी पूर्वी भारत के 'ब्रह्मदेश' की ओर ही संकेत अभीष्ट हो सकता है।

(१) MIC., Pl. CIII, seal 10.
(२) वही, Pl. LXXXVII, seal 74.
(३) MIC., Pl. CXVI, seal 2.
(४) MIC., Pl. CXI, seal 334.
(५) वही, Pl. CXV, 550.
(६) वही, Pl. CV, 58.
(७) वही, Pl. CXV, seal 548.

भारतीय प्रदेशों के नामोल्लेख का अभिप्राय

भारत के विभिन्न प्रदेशों का नामोल्लेख, चाहे आज के समान, उस समय के किसी राजनीतिक एकीकरण का सूचक भले ही न हो, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि देश के विभिन्न भाग वैदिक देवताओं के अधिकार-क्षेत्र में उसी प्रकार समझे जाते थे, जिस प्रकार मानव-देह। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि उस समय पुरुष और प्रकृति, शक्तिमान् और शक्ति अथवा आत्मा और परा (शक्ति) ब्राह्मणकाल[1] के समान समस्त सृष्टि के मूल में समझे जाते थे, क्योंकि इन्हीं (आत्मा और परा) के आदिवर्णों को लेकर प्रथम सृष्टि को आप या अप कहा जाता था। ब्राह्मणग्रंथों[2] के अनुसार आदिसृष्टि 'आपः' मूलतः द्विविध थे—एक प्राण और दूसरे अन्न (या आत्मदेह), परन्तु इन्हीं से सारे देवता[3] उत्पन्न हुये और ये ही देवों के प्रिय धाम[4] माने जाते थे। हम देख चुके हैं कि 'अप' से ही सिंधुघाटी में भी इन्द्र, वायु (आदित्य) और अग्नि को उकारात्मक ज्योतियों का प्रादुर्भाव माना जाता था तथा पराशक्ति वरुण और वृत्ररूप में द्विविध होकर नानाप्रकार की सृष्टि रचती हुई मानी जाती थी। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि भारतभूमि के विभिन्न भाग इंद्र, मित्र, वरुण, वृत्र आदि संबंधित माने जाते हों। शक्तिसंगमतंत्र[5] के अनुसार भी किसी समय देश के विभिन्न भागों के नाम इन्द्रप्रस्थ, यमप्रस्थ, वरुणप्रस्थ, कूर्मप्रस्थ तथा देवप्रस्थ कहलाते थे जिनमें से इंद्रप्रस्थ के अन्तर्गत उत्तर में मथुरा, वृन्दावन, कोलदेश, हस्तिनापुर; पश्चिम में द्वारका तथा दक्षिण में गदावर्त-क्षेत्र तथा मध्यप्रदेश का वराही-क्षेत्र सम्मिलित था। यमप्रस्थ के अन्तर्गत प्रायः समस्त दक्षिण भारत माना जाता था और व्यंकटेश, सोमेश्वर, सप्तश्रृंग, मायापुर, शंखावर्त आदि क्षेत्र उसी में माने जाते थे। वरुणप्रस्थ पश्चिम में मक्केश्वर (मक्का) तीर्थ,

---

(१) गो० ब्रा० १, १, २; श० ब्रा० ६, १, १, ६; ११, १, ६, १ तु० क० अप एव ससर्जादौ (मनु० १, ३)

(२) श० ७, २, ४, १०; तु० क० ऐ० ६, ३०; तै० ३, २, ५, २; श० ३, ८, २, ४; जै० उ० ३, १०, ६; तां० ६, ६, ४।

(३) आपो वै सर्वे देवाः (श० १०, ५, ४, १४)

(४) आपो वै देवानां प्रियं धाम (तै० ३, २, ४, २)

(५) इंद्रप्रस्थं यमप्रस्थं वरुणप्रस्थमेव च। कूर्मप्रस्थं महादेव देवप्रस्थं च पञ्चमम् ॥ (३, ८, १-२)

उत्तर में हिंगुला नदी, पूर्व में राजावर्त (राजस्थान?) तक फैला हुआ था जिसके अन्त में सात सागर थे और पास में समुद्र थे। इसी प्रकार पूर्वी भारत कूर्म-प्रस्थ कहलाता था जो दक्षिण में गोकर्णेश (आधुनिक उत्तरप्रदेश का उत्तरपूर्वी प्रदेश), पूर्व में कामाख्य (आसाम) तथा वैरजनाथ (आधुनिक वैजनाथ) उत्तर में मानस सरोवर तथा पश्चिम में सारदा नदी तक फैला हुआ था। इन पाँच प्रस्थों के अन्तर्गत जिन ५६ प्रदेशों को गिनाया[1] गया है, उससे प्रतीत होता है उनमें मक्का से लेकर लंका तक का सैन्धव-नामक समुद्रतटवर्ती पर्वतीय प्रदेश, रत्नाकर (बंगाल की खाड़ी) से लेकर ब्रह्मपुत्र नदी के अन्तिम छोर तक बंग-देश, कामरूप, भूटान, नेपाल, काश्मीर, खुरासान तथा दक्षिण के केरल, कोंकण, कर्णाट, तैलंग तथा सिंहल का भी समावेश होता था।

तामिल तथा बौद्ध-परंपरा का प्रमाण

भारतभूमि के उक्त सांस्कृतिक एकीकरण तथा वैदिक नामकरण की पुष्टि तामिल के प्राचीन साहित्य से भी होती है। तोलकप्पियम्[2] के अनुसार, हमारी भूमि मुल्लइ (वन), कुरुञ्जी (गिरिभाग) मारुदम (जलभाग) तथा नेदल (कृषिभाग) नामक चार भागों में विभक्त थी जिनके अधिष्ठाता क्रमशः विष्णु, सुब्रह्मण्य (स्कन्द), वरुण तथा इंद्र समझे जाते थे। डा० कृष्णस्वामी आयंगर[3] ने प्राचीन तामिल के संगम-साहित्य से प्रमाण देकर बतलाया है कि राष्ट्रभूमि से जिन देवों का घनिष्ठ संबंध माना जाता था उनमें विष्णु और रुद्र, सुब्रह्मण्य और इन्द्र मुख्य थे। शीलप्पाधिकारम्[4] नामक तामिल ग्रन्थ प्राचीन कावेरीपत्तनम् में शिव, सुब्रह्मण्य, विष्णु और इंद्र के मंदिरों का उल्लेख करता है। अकित्ति[5] जातक के अनुसार अगस्त्य ऋषि वाराणसी के पास से चलकर दक्षिण में कावेरी-पत्तनम् गये और वहाँ से चलकर कारद्वीप (जो अहिद्वीप भी कहलाता था) में रहने लगे जहाँ उन्होंने भिक्षुरूप में आये हुए इन्द्र को स्वयं भूखे रहकर भी अपना भोजन दे दिया। मणिमेखलाइ-नामक बौद्ध ग्रन्थ में अगस्त्य ने परशुराम

(१) शक्तिसङ्गमतन्त्र ३, ७; १-५९।
(२) दी व्रात्य सिस्टम आव रिलीजन, पृ० १३१।
(३) सम कन्ट्रीब्यूशन्स आव साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर, पृ० ५३।
(४) वही, पृ० ५५।
(५) वही, पृ० ४९-५०।

से भयभीत हुये कांडम-नामक राजा को शरण दी और एक अन्य चोल राजा को अट्ठाईस दिवसीय इन्द्रमहोत्सव मनाने का आदेश दिया जिसे देखने के लिये कैलास आदि पर्वतों से सभी देव कावेरीपत्तन आ गये।

उपर्युक्त 'शीलप्पाधिकारम्' नामक प्राचीन तामिल काव्य में उल्लिखित एक ऐसे ही प्रसंग को डा० वासुदेवशरण[1] अग्रवाल ने निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है—

'एक विद्याधर ने अपनी प्रियतमा के साथ रजताद्रि कैलास पर मदनोत्सव मनाया। उसी समय उसे ध्यान आया कि दक्षिण भारत की पुहार-नामक राजधानी में इसी समय इन्द्रमह हो रहा है। उसने अपनी स्त्री से कहा—प्रिये, चलो पुहार का उत्सव देखें जहाँ महाभूतम् साक्षात् रूप में उस हवि का भक्षण करते हैं जो असुरों के बाणों से भयभीत इन्द्रपुरी की रक्षा करने वाले पुरुषव्याघ्र मुचुकुन्द की सहायता करने के उपलक्ष में उसे दी जाती है। चलो वहाँ उन पाँच मंडपों को भी देखेंगे जिनका वास्तु-सौन्दर्य अद्भुत है, जो इन्द्रप्रदत्त हैं और जिन्हें अमरावती के रक्षक मुचुकुन्द के पूर्वजों ने पृथ्वी पर बनाया है।............'

वैदिक संस्कृति के संदर्भ में दक्षिण भारत का शेष भारत के साथ एकीकरण तामिल-साहित्य से बराबर प्रमाणित होता है। तौलकप्पियम् के कुछ सूत्रों पर भाष्य करते हुये आवूर के मूलकिळार-नामक कवि की एक अतिप्राचीन तामिल कविता को उद्धृत किया गया है जिसका उल्लेख करते हुये डा० कृष्णस्वामी[2] आयंगर ने लिखा है कि यह कविता एक अब्राह्मण द्वारा कौणिन्यन्-नामक ब्राह्मण की प्रशंसा में लिखी गई है और इसके अनुसार कौणिन्यन् का जन्म ऐसे ब्राह्मण-वंश में हुआ था जो समस्त वेद-वेदांगों में पारंगत था और जिसने वैदिक धर्म के सत्य को इक्कीस प्रकार के श्रौत यज्ञों द्वारा अभिव्यक्त किया था। कवि इस वंश के ब्राह्मणों की प्रशंसा करते हुये आगे[3] कहता है, आप का जन्म ऐसे कुल में हुआ है। आप मृगाजिन तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। आपकी पति-व्रता धर्मपत्नियाँ ऐसी मणियों को धारण करती हैं जो महायज्ञों के ऋत्विजों की पत्नियों के योग्य हैं; वे परम सुन्दरी हैं और कुलमर्यादा के अनुसार आचरण

---

(१) भारत की मौलिक एकता, पृ० १३३-१३४।
(२) सम कन्ट्रीब्यूशंस आव साउथ इंडिया टु इंडियन कल्चर (पृ० ५१)
(३) वही पृ० ५२।

करती हैं। आप चाहे वन में रहें या गांव में, वे विविध प्रकार की गायों की सेवा द्वारा घी को पानी की तरह बहाकर आपके आदेश का पालन करती हैं। उनकी सहायता से असंख्य यज्ञों को करके और समस्त पृथिवी पर अपना यश-विस्तार करके, आप यज्ञों की समाप्ति पर अभ्यागतों को वृहद्भोज देकर कीर्तिमान् होते हो। हमारी कामना है कि हम आप की इस उच्चप्रतिष्ठा को देखने का सौभाग्य निरंतर पाते रहें········आप पृथ्वी पर जहाँ भी रहो, उत्तुंगशृंग हिमालय के समान ध्रुव रहो और स्वयं हिमालय के समान निरंतर वृष्टि करते रहो। 'डा० आयंगर'[1] अपने ग्रंथ में संगम-साहित्य के ऐसे प्रसंगों का भी उल्लेख करते हैं जहाँ राजसूय यज्ञ करनेवाले महान् चोलराजा तथा एक हिमालय तक राज्यविस्तार रखने वाले चेह वंशी राजा का भी प्रसंग आता है। प्राचीन तामिल-साहित्य के इन उल्लेखों से सिद्ध है कि गौतम बुद्ध से पूर्व ही दक्षिण भारत के लोग भी समस्त भारत को एक मानते थे और उस समय वहाँ वैदिक संस्कृति का साम्राज्य था। अतः यदि मोहेनजोदरा और हड़प्पा के मुद्राचित्रों में भारत के विभिन्न भागों के प्रसंग में वैदिक देवों आदि का उल्लेख पाया जाय, तो सर्वथा स्वाभाविक है।

उपसंहार

अस्तु, मोहेनजोदरो और हड़प्पा से प्राप्त मुद्राचित्रों के आधार पर सिंधुघाटी-सभ्यता का ऊपर चित्र उपस्थित किया गया है, उससे यह तो स्पष्ट ही है कि वह सभ्यता निश्चित रूप से वैदिक थी और उसमें, आरण्यकों और उपनिषदों की भाँति, वैदिक देवों को आध्यात्मिक एवं आधिदैविक अर्थों में ग्रहण किया जाता था, जिसके परिणामस्वरूप विकसित हुये प्रतीकवाद के अन्तर्गत बाह्य प्रतीकों द्वारा आध्यात्मिक एवं दार्शनिक तथ्यों को व्यक्त किया जाता था।

संस्कृत-भाषा

अभिव्यक्ति का माध्यम निस्संदेह संस्कृत-भाषा थी परन्तु उसकी निम्नलिखित विशेषतायें प्रतीत होती है :—

(१) स के स्थान पर 'सिन्धु' जैसे शब्दो में 'ह' का उच्चारण होता था।

(२) वृक्ष जैसे शब्दों में 'क' ध्वनि के स्थान पर 'ख' ध्वनि उच्चरित होती थी।

---

(१) सम कंट्रीब्यूशंस आव साउथ इंडियन कल्चर, पृ० ५३-५४।

(३) संभवतः आधुनिक संस्कृत के 'क्त' प्रत्यय के स्थान पर त न हो 'त्र' होता था, यथा भारत्र के लिए 'भारत', सुवृत के लिये सुवृत्र।

(४) प्रथमाविभक्ति में विसर्ग के स्थान में प्रायः नकार का प्रयोग होता था।

(५) समस्त पदो में कभी-कभी संधि-नियम लागू नहीं होते थे।

(६) सर्वत्र विभक्तियों का प्रयोग अनिवार्य्य नहीं प्रतीत होता।

विश्व का प्रथम मुद्रणालय

दार्शनिक विषयों पर इतनी अधिक मुद्राओं का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि इनका प्रयोग भूर्जपत्र आदि पर मुदणकार्य करने के लिये ही होता होगा अतः ऐसी स्थिति में सिंधुघाटी की इन मुद्राओं को विश्व के सर्वप्रथम ज्ञात मुद्रणालय के उपकरण ही मानना पड़ेगा। प्रायः विद्वानों की यह सम्मति है कि ये मुद्रायें व्यक्तियों अथवा देवताओं के नामों की हैं जिनका प्रयोग जादू-टोना तथा ताबीज आदि के लिए भी होता होगा, परन्तु इन मुद्राओं पर लिखे लेखों से इस सम्भति की पुष्टि नहीं होती। उदाहरण के लिये आकृति सं० ८ के मुद्रा-चित्र का उपयोग निस्संदेह श्वेताश्वतर-उपनिषद् के कुछ श्लोकों के अर्थ को समझाने के लिए होता होगा। इसी प्रकार ऊपर उल्लिखित प्रायः सभी मुद्राओं का विषय मुख्यतः दार्शनिक ही प्रतीत होता है।

तथाकथित वृक्षपूजा और पशुपूजा

प्रायः विद्वानों ने वृक्षपूजा और पशुपूजा को सिंधुघाटी के धर्म का मुख्य अंग माना है, परन्तु मुद्राचित्रों तथा उन पर प्राप्त लेखों से इस बात की पुष्टि नहीं होती। वृक्ष और पशु वहाँ सर्वत्र दार्शनिक काव्य-प्रतीकों के रूप में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। आकृति सं० २,५,६ और ८ में चित्रित वृक्षों और पशुओं की चर्चा ऊपर हो चुकी है। उसमें पूजा का कोई संकेत नहीं मिलता। इसके विपरीत वे स्पष्टतः दार्शनिक प्रतीक ही प्रतीत होते हैं और इस प्रतीकवाद के मूल में जो दार्शनिक विचार-धारा है उसकी पुष्टि वैदिक उद्धरणों से भी की गई है।

वृक्ष को प्रतीकरूप में ग्रहण किये जाने की परिपाटी उपनिषदों में विशेष रूप से स्पष्ट हुई। उदाहरण के लिए, बृहदारण्यक[1]-उपनिषद् के निम्नलिखित

(१) बृ० उ० ३, ९, १–७।

स्थल को प्रस्तुत किया जा सकता है :—

"वनस्पति वृक्ष जैसा होता है, पुरुष भी वैसा ही होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्ष के पत्ते होते हैं और पुरुष के शरीर में पत्तों की जगह रोम होते हैं; पुरुष के शरीर में जो त्वचा है, उसकी समता में इस वृक्ष के बाहरी भाग में छाल होती है। पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है और वृक्ष की त्वचा से भी गोंद निकलता है। जिस प्रकार आघात लगने पर वृक्ष से रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुये पुरुष-शरीर से रक्त प्रवाहित होता है। पुरुष के शरीर में मांस होता है, वनस्पति के शर्करा (छाल का भीतरी भाग); पुरुष के स्नायु होते हैं और वृक्ष में किनाट जो स्नायु की भांति स्थिर होता है। पुरुष के स्नायुजाल में जैसे हड्डियाँ हैं, वैसे ही किनाट के भीतर काष्ठ है, मज्जा तो दोनों में समान है।"

इस शरीररूपी वृक्ष का प्रेरक अहंनाम आत्मा है; इसी का उल्लेख तै०उ०[1] में इस प्रकार किया गया है—

अहं वृक्षस्य रेरिवा कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।
ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि।
द्रविणं सुवर्चसम् सुमेधा अमृतोक्षितः ॥

सिंधुघाटी के चित्रों में वृक्षरूपी शरीर से संबद्ध पुरुष यही है।

पशु को प्रतीक रूप में ग्रहण किए जाने की प्रथा भी वैदिक साहित्य में बहुत प्रचलित रही है। हंस आदि पक्षी के रूप में तो आत्मा को आज तक चित्रित किया जाता है। तै०उ० में उसके शिर, पक्ष-द्वय, पुच्छ आदि का वर्णन अनेक ढंग से किया गया है उसका एक उदाहरण[2] यह है—

तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोदो उत्तरः पक्षः।
आनन्द आत्मा। ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ॥

यह आत्मा ही नवद्वार वाले शरीररूपी नगर में रहने वाला हंस है जो बाह्यजगत् के चराचर का स्वामी[3] भी है। बाह्यजगत् के संदर्भ में, आत्मा की सबसे अच्छी कल्पना सम्भवतः मेध्य अश्व के रूप में पाई जाती है। इसमें एक

(१) तै० उ० १-१०।
(२) तै० उ० २-५।
(३) नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च। (श्वे० उ० ३, १८)

विशेषता है कि इसके चार रूप हैं जो क्रमशः हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व[1] कहे जाते हैं। "उषा इस मेध्य अश्व का शिर है, सूर्य नेत्र, वायु प्राण, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख और संवत्सर उसका आत्मा है। द्युलोक इसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उदर, पृथिवी पादस्थान, दिशाएं पार्श्वभाग, प्रदिशायें पसलियाँ, ऋतुएँ अंग, मास और अर्धमास पर्व, दिन-रात प्रतिष्ठा, नक्षत्र अस्थियां, आकाश माँस, वालू ऊबध्य (उदर का अर्धजीर्ण अन्न), नदियाँ नाडियाँ हैं, पर्वत यकृत् और हृदय के माँस-खंड, औषधियाँ और बनस्पतियाँ रोम हैं; उदयोन्मुख सूर्य ऊपरी भाग, अस्तोन्मुख सूर्य निचला भाग, जमुहाई विद्युत, शरीर का हिलना घनगर्जन; मूत्रत्याग वर्षा तथा हिनहिनाना उसकी वाणी है। ......इसने हय होकर देवताओं को, वाजी होकर गन्धर्वों को, अर्वा होकर असुरों और अश्व होकर मनुष्यों को वहन किया है।" इस चित्र की प्रतिकृति मोहेनजोदरो से प्राप्त मुद्राचित्र[2] में देखी जा सकसी है। यद्यपि इस चित्र का केवल स्कन्ध से ऊपर का भाग ही अवशिष्ट है, परन्तु उसका खुला हुआ मुख, उसकी सूर्यमण्डलाकार आँख, कानों के पीछे अलंकरणरूप में लिखा 'उषा' तथा उससे नीचे किरण-जाल-सा अलकरण उपर्युक्त अश्व-शिर की याद दिलाते हैं। परन्तु इसकी विचित्रता यह है कि इसके निचले जबड़े में जो दो दाँत दिखाई पड़ते हैं वे कुत्ते आदि हिंसक पशु के हैं और ऊपर के जबड़े में एक भी दाँत नहीं हैं। इसका कारण यह है कि यह उसी चीते या व्याघ्र का मेध्य रूपान्तर समझा जाता था जो 'वृत्राश्व' शीर्षक ग्रहण करके दक्षिणावर्त-रूप पाकर भी 'नाऽग्नि अग्नि न' कहा[3] जाता था क्योंकि वृत्रत्वप्रधान जीवात्मा अमेध्य होने से अग्निरूप नहीं हो सकता, मेध्य होने के लिये उसमें ज्ञानमयी उषा का किरणजाल एक अनिवार्य आवश्यकता है। इसी प्रकार जो दो सींगवाला महिष वामावर्त-रूप में वृत्रत्व का प्रतीक है, वही एक स्थान[4] पर दक्षिणावर्त होकर तीन अर्द्धचंद्राकार सींगों को संयुक्त रूप में धारण करके मेध्य बनता है। ऐसा ही एक विचित्र पशुप्रतीक 'अश्ववृत्र मन' शीर्षक[5] ग्रहण किये हुये है; इसके सींग महावृषभ के, सूंड़ हाथी

---

(१) वृ० उ० १, १-२
(२) MFE., Plate LXXXVII, seal 259.
(३) वही, वही, seal 260.
(४) MEH.; Plate XCI, seal 240.
(५) MEH., Plate XCI, seal 249.

की, पूंछ सर्पाकार तथा मुख मनुष्य का है। यही प्रतीक अन्यत्र[१] भी पाया जाता है, परन्तु अंतर इतना है कि वहाँ उसका मनुष्य-मुख आवरणयुक्त होने से दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रतीक में जो रज्जुवत् आवरण का लपेटा दिखाया जाता है, उसको कुछ विद्वानों ने पुष्पमाला समझ कर सिंधुघाटी में पशुपूजा के प्रचलन को स्वीकार किया है, परन्तु इन प्रतीकों में प्राप्त शीर्षकों से स्पष्ट है कि यह आवरण ११ अश्नों[२], तथा वरुण नागों[३] का है और जिन्हें पुष्पमाला कहा गया है वह वस्तुतः वषट्कार-रूपी रज्जु का लपेटा है। एकशृंगी, त्रिशिरा आदि पशुओं का जो विवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है उससे भी स्पष्ट है कि ये पूजे जाने वाले साधारण पशु नहीं, अपितु ये दार्शनिक तथ्यों का उद्घाटन करनेवाले पशु-प्रतीक हैं। इनमें से प्रत्येक के सभी रूपों तथा उनसे संबंधित सभी लेखों के अध्ययन की बड़ी आवश्यकता है। सिंधुघाटी के पशुओं का यह अध्ययन यदि वैदिक साहित्य में उल्लिखित पशुओं के साथ तुलना की जावेगी, तो वैदिक व्याख्या पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ेगा और जो ब्राह्मण-ग्रंथ आज निरर्थक वाग्जाल के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं वे वेदभाष्य के अनुपम ग्रंथ सिद्ध होंगे।

अतः सिंधुघाटी-लिपि को पढ़ने में अब तक जो सफलता मिली है, उसके आधार पर यह तो अवश्य कहा जा सकता है कि भारतीय कला में अभिव्यक्त होने वाला राष्ट्रीय आत्मा निरंतर एक रहा है। ऋग्वेद के वागंभृणीसूक्त में जो 'राष्ट्री' नामक महाशक्ति विविधरूपा अभिव्यक्तियों में प्रकट होती बताई गई है वही उपनिषद् और सिंधुघाटी में समानरूप से 'परा' संज्ञा ग्रहण करती है। सिंधुघाटी के एक चित्र में आत्मा को पुरुष-रूप में और पराशक्ति को स्त्रीरूप में चित्रित किया गया है; इनमें से प्रत्येक अपने हाथ में अपने-अपने नाम का प्रथम वर्ण पकड़े हुये हैं—इन्हीं अ तथा प वर्णों से मिलकर 'अपः' शब्द बनता है जो वेद से लेकर मनुस्मृति तक निरंतर आदिसृष्टि के रूप में माना गया है—'अप एव ससर्जादौ'। अपः का साधारण अर्थ जल है, परन्तु श्वेताश्वतर-उपनिषद् के अनुसार वह वस्तुतः आत्मा की 'ज्ञानबलक्रिया' का रूपांतर होने से केवल 'ज्ञानमय कर्म' है सिंधुघाटी के उक्त चित्र में इसी 'अपः' के द्वारा एक ओर संसार-रूपी वृक्ष के पत्तों आदि का निर्माण होता है और दूसरी ओर उन पत्तों के चरने

(१) MFE., Plate XCVIII, Seal 636; plate C, seal A.
(२) वही, Plate G, seal A.
(३) वही, Plate XCVIII, seal 606.

वाले दो मृगों का। अन्न और अन्नाद की यह द्विविध सृष्टि मोहेनजोदरो के एक दूसरे चित्र में पीपलवृक्षरूप अन्न से संयुक्त दो अजों के रूप में दिखाई गई है और उपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ कर रही है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

वेद और सिंधुघाटी की उक्त पराशक्ति दो रूपों में अभिव्यक्त होकर आत्मा का आवरण बनती है। प्रथम रूप में वह प्रकाशमय आवरण है जिसका नाम 'वरुण' है, दूसरे रूप में वह 'वृत्र' नामक अंधकारमय आवरण बन जाती है। वरुणरूपी आवरण के प्रभाव से आत्मा तीन ज्योति-पुरुषों में परिणत हो जाता है जिनको क्रमशः इंद्र, वायु तथा अग्नि कहा गया है। मोहेनजोदरो से प्राप्त एक चित्र में इंद्र (आत्मा) शरीररूपी वृक्ष पर बठा हुआ सिंहरूपी वृत्र को एक ऐसे ढके हुये पात्र के पास जाने से रोक रहा है जो 'व' तथा 'न' वर्णों से मिलकर 'वन' शब्द की आकृति का है। वन-शब्द की तुलना उपनिषद् के तद्वनम् से की जा सकती है जो तुरीय ब्रह्म है और जिसको इंद्र, वायु, तथा अग्नि में से केवल इंद्र ही उमा की सहायता से जान पाता है। मोहेनजोदरो के उक्त चित्र में भी इंद्र के साथ उमा का नाम लिखा है और वह वायु एवं अग्नि के प्रतीक-स्वरूप दो ऐसे पुरुषों को लड़ने से रोक रही है जो उक्त शरीररूपी वृक्ष की दो शाखाओं को अस्त्र बनाकर परस्पर लड़ने के लिये उद्यत हैं। इन दोनों शाखाओं में से प्रत्येक में पाँच-पाँच पत्तियाँ हैं जो क्रमशः पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों की प्रतीक हैं। निस्संदेह ये दोनों लड़ने वाले पुरुष आत्मा के क्रमशः कर्ता एवं भोक्ता-पक्ष के प्रतीक हैं और इन दोनों की मध्यस्थता करने वाली उमा वही परा शक्ति है। दो अन्य चित्रों में भी, ये दोनों पुरुष दो व्याघ्रों अथवा सिंहों के रूप में दिखाये गये हैं और उन दोनों के बीच में खड़ी हुई एक ज्योतिर्मुखी आकृति इन दोनों को लड़ने से रोक रही है। परन्तु हड़प्पा से प्राप्त एक चित्र में ये दोनों सिंह एक साथ नाचते दिखाये गये हैं और एक पुरुष को शिर के बल इस प्रकार उलटा खड़ा किया गया है कि वह एक सूखे वृक्ष के ठूंठ सा दिखाई दे और उसके मूलाधार से प्रस्फुटित होती हुई, चार पत्तियों सहित एक नवीन शाखा बनाई गई है जो छान्दोग्य-उपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य को चरितार्थ करती है—यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात् जायेरन् एव अस्मिन् शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानि—यदि इस सत्य को सूखे ठूंठ से भी कह दिया जाय, तो उसमें भी शाखायें पैदा हो जावें और पत्ते निकलने लगें। जिस सत्य का यहाँ उल्लेख

किया गया है वह 'श्रम' नामक ज्येष्ठ प्राण है, और सिंधुघाटी के उक्त चित्र में भी उक्त पुरुषरूपी वृक्ष को 'श्रमवृक्ष' नाम दिया गया है जो उपर्युक्त अपः-नामक ज्ञानमय कर्मजल से सिंचित होकर पल्लवित होता है। इसी 'ज्ञानमय-कर्मजल' की कल्पना व्यक्त करने के लिए कर्म तथा ज्ञान के प्रतीक सिंहद्वय को परस्पर लड़ने के स्थान पर एक साथ नाचते हुये दिखाया गया है और पुरुषरूपी वृक्ष के हाथों और पैरों को इस स्थिति में रक्खा गया है कि शिर को उभयनिष्ठ मानकर दो वार 'जनक' शब्द की रचना हो गई है।

कर्म और ज्ञान के बीच जिस प्रकार भारतीय दर्शन और कला ने समन्वय स्थापित किया है उसी प्रकार वरुण और वृत्र के बीच भी सामंजस्य लाने का प्रयत्न मिलता है। इस दृष्टि से आत्मा को ब्राह्मणग्रंथों में सर्वतोमुखी अग्नि कहा गया है और उस के छः मुख बताये गये हैं। मोहेनजोदरो के एक चित्र में एक हृदयाकार 'उखा' नामक वस्तु से छः सग्रीव शिर चारों ओर निकलते हुये दिखाये गये हैं और एक अन्य चित्र में इन छः के जो नाम दिये गये हैं उनमें से तीन तो ज्योतिर्मय इंद्र, वायु तथा अग्नि देवों के हैं और तीन क्रमशः वृत्र, अन्न तथा अयज-नामक आवरणों के हैं। यही सर्वतोमुखी अग्नि पुराणों के षडानन स्कन्द के रूप में परिणत हो जाता है जो वैदिक अग्नि की भाँति ही देवों का अग्रणी और सेनानी माना जाता है। इसी समन्वय को व्यक्त करने के लिये सिंधुघाटी के एक चित्र में पुच्छ और पिछले पैरों सहित आधा धड़ चीते का बनाकर उसके अगले पैरों पर एक पुरुष बनाया गया है जिसके शिर मेंढ़े के दो सींग बनाये गये हैं और उनके नीचे निकलता हुआ एक तीर है जिसके नीचे उसका एक हाथ दण्डाकार में परिणत हो गया और दूसरा हाथ आगे को उठा हुआ दिखाया गया है। मोहेनजोदरो की खुदाई के निम्नतरस्तर-प्राप्त एक मुद्राचित्र में सिंहरूपी वृत्र एक 'प' वर्ण की आकृति के सामने चुपचाप खड़ा है। यह 'प' वर्ण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उसी पराशक्ति का प्रतीक है जो वेद में राष्ट्रीवाक्, आगमों में त्रिपुरसुंदरी तथा पुराणों में जगदम्बा के रूप में दिखाई पड़ती है। अतः जो सिंह अन्य चित्रों में शरीररूपी वृक्ष अथवा आत्मारूपी वन को क्षति पहुंचाने के लिये प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है उसका यहाँ 'प' वर्ण के सामने शान्त हो जाना स्पष्ट बतलाता है, वह परा-शक्ति को अधीनता स्वीकार कर चुका है। इसी कल्पना को लेकर, परवर्ती काल में सिंह को देवी का वाहन बना दिया गया। सिंधुघाटी के एक मुद्राचित्र में विचित्र पशु सिंह के ऊपर बनाया गया है और उस पर 'अपंच य' वर्ण लिखा

हुआ है जिसका अर्थ है कि इस प्रतीक के अन्तर्गत वृत्र के पंचवर्णों रहित 'यज्ञ' अभीष्ट है। इसी प्रकार एक अन्य चित्र में दण्डाकार 'अ' वर्णसदृश तने वाले वृक्ष की सभी पत्तियों से 'अन' शब्द की आकृति बनती हुई दिखाई गई है और उस वृक्ष के नीचे खड़ा हुआ सिंह उस वृक्ष पर स्थित पुरुष द्वारा प्रस्तुत की गई एक पत्ती के लिए मुख फैला रहा है। इस चित्र के ऊपर जो लेख है उसमें 'अग्नि, अप, वृत्र तथा ग्यारह अन्नों का समावेश व्यक्त किया गया है।

वरुणत्व और वृत्रत्व के बीच यह समन्वय भारतीय दर्शन में आवश्यक माना गया है, क्योंकि इसके अभाव में अमृत की प्राप्ति नहीं होसकती। इसीलिए समुद्र-मंथन देवों और असुरों के सहयोग से ही संभव हुआ और इसी के परिणाम-स्वरूप अमृत-समेत चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। परन्तु देवों और असुरों का यह सहयोग नहीं रह सका, क्योंकि दोनों में त्याग-बुद्धि का अभाव था जिसके परिणाम-स्वरूप दोनों में लोभ और क्रोध ने घर किया। देवों की ओर से, ऋग्वेद में शृंगवृष प्रजापति का कुंडपायी पुत्र इन्द्र-वृषभ उत्पात करने लगा और उनके शत्रुओं की ओर से शंबर, शुष्ण आदि अपना पौरुष दिखाने लगे। सिंधुघाटी में एक ओर शृंगवृष के कुंडपायी पुत्र को एक रौद्ररसावतार वृषभ के रूप में चित्रित किया गया जिसके सामने सदा एक कुंड सा रक्खा रहता है और दूसरी ओर एक दीर्घशृंग महिष की सृष्टि की गई जिसकी ध्वंस-क्रिया के चित्रों को देख कर पौराणिक महिषासुर की याद आ जाती है। बौद्धदर्शन में मार और जैनदर्शन में मोह इसी प्रकार की वृत्रशक्ति का प्रतीक बनकर आत्मा की साधना में बाधा डालता है; वैदिक और सिंधुघाटी की परम्परा में देहरूपी वृक्ष के निवासी आत्मा को तंग करने के लिए व्याघ्ररूपी वृत्र तुला हुआ है।

भारतीय दर्शन के सामने प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस समस्या का समाधान क्या हो ? वेदों ने इसका हल ब्रह्म-विजय में देखा, जैन दर्शन ने मोहराज-पराजय द्वारा आत्मा को जिन बनाने का लक्ष्य रक्खा, बौद्धों ने 'मार', शैवों ने 'त्रिपुर' अथवा मदन को ध्वस्त करना आवश्यक माना और वैष्णवों ने असुरों अथवा राक्षसों के विनाश की योजना बनाई परन्तु प्रश्न ज्यों का त्यों रहा; इस विजय का क्या रूप हो और यह कैसे प्राप्त हो ? सब का उत्तर एक था—विजय का अर्थ शत्रु का संपूर्ण तथा सर्वकालिक विनाश नहीं है, क्यों कि ऐसा संभव नहीं। चाहे इंद्र-वृत्र-संघर्ष हो और अथवा देवासुर-संग्राम, कभी वृत्रों अथवा असुरों का सर्वनाश नहीं हो पाया; हो भी कैसे ? वस्तुतः दोनों ही उसी पराशक्ति के दो पक्ष हैं जो आत्मा की 'ज्ञानबलक्रिया' कही गई है। अतः वेद से

लेकर अब तक, भारतीय दर्शन ने एक ही उपाय सुझाया, वह है योग—ऋग्वेद की भाषा में वह छन्दसां योग या जिष्णु योग है; उपनिषदों में उसी को प्रणवोपासना कहा गया है जिसमें प्रणवरूपी धनुष पर रखकर आत्मारूपी तीर से ब्रह्म को बेधा जाता है :—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्ध-व्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।

इसी योग में, शक्ति और शक्तिमान्, देव और असुर, ज्ञान और कर्म तथा व्यष्टि और समष्टि आदि सभी द्वन्द्वों की समाप्ति होकर एक संश्लिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है जिसे उपनिषद् की भाषा में दीपोपम आत्मतत्त्व कहा गया है और सिंधुघाटी के अनेक चित्रों में दीपाकृति में रक्खी हुई अग्नि-शिखा के रूप में प्राप्त है। यही शिव का ज्योतिर्लिङ्ग है और यही है वेदी पर स्थित यज्ञीय अग्नि। यही उस बोध का प्रतीक है जिसके विषय में कथन है :—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।

सिन्धुघाटी के कुछ मुद्रालेख

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
1.	M.I.C., 19	अत्रि अग्निमान् अन
2.	M.E.H., XCVII, 532	नामरूप अनाप्न
3.	„ XCVIII, 599	(स्थूल)अन्नाऽग्नि अनाप्न पकार और उकार धारण करने वाला इन्द्र (सूक्ष्म) अन्न
4.	„ XCVI 442	अम = इन्दुवृत्रभारश्राग्नि
5.	„ „ 474	अमा = मनना
6.	„ XCVII, 539	उ = मा
7.	M.F.E., XC, 23-a	सा इन्द्रा उमा
8.	MFE., XC, 23-b; 24-b	वनम्
9.	M.F.E., CI, 15	१—मन व (वरुण) अप २—अन-अन-अन व (वरुण) अत्रि
10.	M.I.C., CXII, 385	वृत्र वषट्
11.	आकृति, ४६	हिमदंडवृत्रसमुद्रद्वयअन मा
12.	M.I.C., CX, 279	वृत्रजस्न
13.	„ CXVII, 2	वृत्र मन (स्थूल), अन (अर्द्धस्थूल) मन (सूक्ष्म)
14.	„ „ 1	वृत्रप्राण अ (अन्न?)
15.	„ „ 3	वृत्रपंचमना उष्ट्रमान
16.	„ CXI, 357	अनान्नस्तेन नमति
17.	„ „ 355	वृत्र अन्न मन
18.	M.E.H., XCIII, 306	वृत्र अनान्न अवर्णत्रय (स्थूल)
19.	„ „ 318	अपंच वृत्र यस्न
20.	„ XCII, 273	} वृत्रपापन्
21.	„ „ 282	} वृत्रपापन्
22.	„ „ 276	} वृत्रपापन्
23.	„ „ 284	ऋत्रपाप
24.	M.I.C., CXVII, 7	वृत्रमख
25.	„ „ 8	} वृत्रवरुण मख, अनान्नमन सप्तधा
26.	„ „ 12	} वृत्रवरुण मख, अनान्नमन सप्तधा
27.	„ CXVIII, 4	} वृत्रवरुण मख, अनान्नमन सप्तधा
28.	„ XCIII, 9	} वृत्रवरुण मख, अनान्नमन सप्तधा
29.	M.F.E., XCIX, 673	पंचधा विभक्त प (परा)

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
30.	M.F.E. plate C, seal D	द्विधाविभक्त प (परा)
31.	,, XCIII, 14	वृत्र-रप ईश-अवर्ण अवर्णजय यश
32.	M.I.C. CXVIII, seal 9	अवर्णत्रय अनान्नद्वय म (मन)
33.	,, CXII., 382	सप्तात्रि
34.	M.F.E., LXXXIII, 24	अग्नि-अन-द्वय सप्तान्नमनद्वय दमनाग्निद्वय
35.	M.I.C., CXVIII, 12-b	वायु
36.	M.F.E., CI, 12-a	यज्ञीय वा (वायु)
37.	,, ,, 1--b	अत्र्यात्रि
38.	,, ,, 12-c	इदुवृत्र
39.	,, ,, 8-a	वृत्रेन्द्राग्नि
40.	,, ,, 13-a	अघ (मृग)
41.	,, ,, 11-a	मना नागद्वय वृत्र-अप-द्वय
42.	,, ,, 11-b	वरुणवृत्र
43.	,, ,, 14-b	पप्रि अग्नि
44.	,, ,, 4-a	शत अन
45.	,, ,, 5	अनाग्निवल
46.	,, ,, 2-c	राष्ट्रमनवल-पा
47.	,, ,, 7-a	वृत्रेन्दुमित्र, नागद्वयसप्त-अनान्न, अन्न ३ अन-वृत्र
48.	,, ,, 7-b	अवर्णद्वय (सूक्ष्म), अवर्णद्वय (स्थूल) रुरुवन् मदवान् वृन्देन्दु
49.	,, ,, 7-c	उकारत्रय, मदवान् अपद्वय, वृत्रजनान्न आ (त्मा)
50.	,, ,, 12-c	} इंदुवृत्रमख
51.	MIC., CXVIII, 12-a	} इंदुवृत्रमख
52.	MEH., XCIII, 314	उकार अनान्न, वृत्रद्वयाग्निन् अन
53.	MIC., CXII, 387 (आ० ८)	एकत्रित अत्रि अग्नि, एकादश अन्न
54.	MEH., XCIII, 307	उकारत्रयाग्न जश्न
55.	,, ,, 312	वृत्रजश्नान्न अग्नि
56.	,, ,, 320	सवित्रेन्द्रजश्न जन
57.	MIC., CXII., 378 (आ० २८)	वृत्रहन् या वृत्रहा
58.	,, CIX., (आ० २७)	

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
59.	MFE., XXVIII.,641(आ० ३१)	एकादश, अध्यर्ध वायु, अग्रज अग्नि, वृत्र इन्दु
60.	MEH., XCIII., 305(आ० ३३)	क, वृत्र
61.	MFE., C.I, 15, a-b	वृत्रद्वय त्रिवृत अकार
62.	MEH., XCI., 25 (आ० ३६)	घ्र (घ्राण), र (रसना), च (चक्षु), त (त्वक्), व (वाक्), श्र (श्रोत्र), म (मन)
63.	MFE., XCIX , 663 (आ० ४७)	त्रिवृत इंदु, एकत्रित
64.	MFE., LXXXVII, 222 (आ० ५०)	उकारद्वयाग्नि, एकादश अन्न
65.	MIC., XII., 17	वृत्राग्निशुनौ प्राणाग्नी न्द्रेन्दू
66.	MFE., XCIV., 420	वृत्राग्निशुनौ प्राणाग्नी न्द्रेन्दू
67.	MEH., XCIII., 318	अपंच वृत्र वषट्
68.	,, XCIV., 341	सवपन अन असि द्यु
69.	M.F.E., XCVII , 590	अन अग्निन् मन
70.	,, ,, 573	वृत्र-वषट्-मन-मान
71.	,, XCIX., 648	हस्तिमान् अन
72.	,, CII., 15-a,b	शतान्न
73.	,, ,, 14-a,b	असि-अम एकादश अन्न
74.	,, XCVII., 587	इन्द्रवृत्राग्निषडान्न
75.	,, LXXXVIII., 310	अन १
76.	,, LXXXV., 153	चतुरग्नि
77.	,, LXXXVIII., 322	चतुर्विध अग्नि
78.	,, LXXXV., 108	हिंधु-मानन्-इंद्र
79.	MEH., XCIII., 325	सेन्द्रवृत्र ऐन्द्रमैत्र
80.	MFE., LXXXV., 121	वृत्रसेन्द्र (वृद्ध) एकादश
81.	,, XCVIII., 611	इनन्द्रावरुण
82.	,, LXXXVIII., 283	वृत्रवषट्-इन्द्र-अन-राष्ट्र
83.	,, XCVI., 518	मननवृत्रजननवृतान्न
84.	,, LXXXV., 129	शत अन्नानि द्वादशाग्न्याग्नि-भारत्र-राष्ट्र
85.	,, LXXXV., 142	शत अन्नानि
86.	MIC., CX., 319	शताग्नवत् नाम भरत्र
87.	MEH., XCI., 227	मित्राश्वसरिर भारत्र एकादश

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
88.	MFE., LXXXIX, 362	अन्ना···राष्ट्र
89.	MEH., ,, 124	वृत्र राष्ट्र
90.	,, ,, 110	वृत्रजन एकादशवरुण
91.	,, ,, 146	वृत्रएकादश
92.	,, ,, 145	वृत्रसेन्द्रएकादशी
93.	,, ,, 139	वृत्रसोमाएकादश
94.	,, XCI., 241	वृत्रसेन्द्राग्निरग्निवृत्रजनेन्द्र
95.	,, LXXXVIII., 93	वृत्रएकादशी
96.	,, ,, 87	वृत्रन् नर-अन-राष्ट्रदान
97.	,, ,, 78	वृत्रएकादशाग्नि एक अन्न
98.	,, ,, 166	वृत्रमानसपानपा
99.	,, LXXXVII, 89	इरा
100.	,, XCI., 233	अनदमा
101.	,, XCI., 236	मंत्र
102.	,, ,, 235	सेन्द्र
103.	,, ,, 235	वृत्रेन्द्रमैत्र
104.	,, ,, 240	वृमा उ ३
105.	,, ,, 256	अन अग्नि ६ मन नद
106.	,, ,, 260	शतान्नानि इंदुपा अम
107.	,, XC., 220	अन्न-अशन-अग्निन्
108.	,, ,, 168	इंद्रवृत्राग्नि १
109.	,, ,, 171	अग्नि पट्
110.	,, 181	वृत्राहा
111.	,, 211	अन नाना एक
112.	,, 212	मन
113.	MIC., CIII., 10	वृम
114.	,, CXVI., 2	वृमाग्नि इंदु
115.	,, CXI., 334	वृम १२ इन्दून अन
116.	,, CXV., 550	वृमवषट् अग्नि
117.	,, CV., 58	वृमन जशनन् ईश अपोनपा
118.	,, CXV., 548	नमन वृम मम
119.	,, ,, 551	अन्नाग्नि उन्मन
120.	,, ,, 557	वृत्र उष्ट्रमाना नानाग्नि अन्नानि
121.	,, ,, 553	वृत्र उष्ट्रमाना वृत्राग्निन् अन इंदुपा

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
122.	MIC.,	CVX.,	554	एकत्रित अत्रि अग्निन् अन
123.	,,	,,	547	अश
124.	,,	,,	542	द्वितचतुष्टय द्वितचतुष्टय अन्नानि
125.	,,	,,	543	अत्रि अग्नि मित्र ११ अन्न
126.	,,	,,	544	अनाग्निरग्निनाभाभीम
127.	,,	,,	557b	अपापन जश्न नमन
128.	MEH.,	XCVII.,	540	वना
129.	,,	,,	517	नग्न, वृत्रद्वय मन
130.	,,	,,	497	वृत्रेन्द्राग्नि, मु
131.	,,	,,	502	अवर, उम्
132.	,,	,,	505	अनान्न
133.	,,	,,	506	वरुण म, अम
134.	,,	,,	561	११ अन्न
135.	,,	,,	551	अत्रि अग्नि
136.	,,	,,	499	एकादश अन्नाग्नि
137.	,,	,,	501	सोऽग्निः (?), उमा
138.	,,	,,	542	त्रिवृत्र जश्न
139.	,,	,,	543	सवृत्र जश्न
140.	,,	,,	521	अपद्वय अन, अनाग्नि
141.	,,	,,	575	व(रुण) जश्न, उम् अप-अप-अप
142.	,,	,,	580	अग्नि मन अन्न, उ अपद्वय व(रुण);अप-अपा
143.	,,	,,	573	स वै अंत्राग्नि द्वादशान्नानि, क्षमा दा अन्नद
144.	,,	,,	576	वृत्रवरुणअन्नाग्नि, उमा, अग्नि
145.	,,	,,	561	एकादश अन्ना
146.	,,	,,	563	सवृत्र अनान्न अष्ट
147.	,,	,,	547	सेन्द्र
148.	,,	,,	577	अनन्तः उ-अन-अप (वामावर्त लिपि में भी) उमा
149.	,,	,,	504	स-अन्न-अन जन
150.	,,	,,	499	एकादश अन्नाग्नि, ऊन
151.	,,	,,	566	उणा, उ १
152.	,,	,,	557	२ पाप, न
153.	,,	,,	546	वृत्राग्नि, उ
154.	,,	,,	549	वामन नरनरअन

क्रमाङ्क	मुद्रा	मुद्रालेख
155.	MEH., XCVII., 544	अनाग्निा, उमा
156.	„ „ 545	वरुण, उमा
157.	„ LXXXVIII., 95	नराअना
158.	„ „ 89	इरा
159.	„ „ 74	वृमशमनम्
160.	„ „ 102	वृत्रेन्द्रयस्न
161.	„ LXXXIX., 125	नानादवाग्नि
162.	„ „ 129	अत्रिजन
163.	„ „ 137	वृत्रसेन्द्र एकादश
164.	„ „ 144	पानपा इंद्र
165.	„ „ 145	वृत्रसेन्द्रवृत्रएकादशी
166.	„ „ 146	वृत्र एकादश
167.	„ „ 148	रस उमा
168.	„ „ 149	अत्रि अग्नि
169.	„ „ 141	इंद्रवृताग्निनानाशिप्र
170.	„ „ 147	वृतंभर
171.	„ „ 165	सीमन्
172.	„ „ 166	वृत्रमानसपानपा
173.	„ XC., 168	इंद्रवृत्राग्नि
174.	„ XCI., 233	अनदमा
175.	„ „ 231	घा उ
176.	„ „ 236	मैत्र
177.	„ „ 241	वृत्रसेन्द्राग्निरग्निवृत्रजन-सेन्द्र
178.	„ „ 230	अत्रिमना पीनवरुण
179.	„ „ 260	असि अन्ना न इंदुवा अन
180.	„ „ 254	वृत्रयशाग्नि मंत्र असि अन-अप-नवपा
181.	MIC., CXIII., 409	ईश अवर्णत्रयाग्नि
182.	„ „ 410	ईशानात्रि इंद्र
183.	„ „ 414	वृत्रद्वादशम् उमाग्नि
184.	„ „ 415	वृत्रवपट् द्वादशाग्नि
185.	„ „ 424	मम अष्टेन्द्रार मन
186.	„ „ 425	ईशतम उ चतुरग्नि
187.	„ „ 430	वृत्र ईश अम असि न अन्न
188.	„ „ 435	खग वृत्र गममाता अन्न

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
189.	MIC.,	CXIII.,	440	गम वृत्र खग
190.	,,	,,	436	ऋत्रपापन् असि अवसा न अन्न
191.	,,	,,	437	मम चतुर्विंशति इंद्र (वृद्ध)
192.	,,	,,	438	वृत्र अश्मासद् वषट्सद् जश्न १ अन्न
193.	,,	,,	439	ईश नाना एकऋण्ण
194.	,,	,,	453	रमा
195.	,,	,,	460	वृत्ररमा
196.	,,	,,	459	वृत्र-द-द-द दासवृत्र
197.	,,	,,	444	नर सप्तत्रित चतुर्मकर अन्न
198.	,,	,,	445	असि एकादश अन्नानि
199.	,,	,,	446	वृत्रवसना
200.	,,	,,	447	असि अन्नाग्नि (सूक्ष्म) अग्नि अन्ना (स्थूल)
201.	,,	,,	448	ईश्वर अवृत्रगमा
202.	,,	,,	449	सन्नतेन्द्रप
203.	,,	,,	451	ईशमना न अन
204.	,,	,,	456	स अन्नानां अवाग्नि न मन
205.	,,	,,	457	अत्रि किन्नर वृत्रद्वय द्वादशमास
206.	,,	,,	461	नागद्वय वृत्रद्वय अन
207.	,,	,,	462	...असि वृत्र अरनर
208.	,,	,,	463	अग्नि अन्न उमा
209.	,,	,,	464	वृत्रपापन् अवषट्रा यश उमा
210.	,,	,,	465	वृत्रमानन् अन
211.	,,	,,	466	वृत्रमान दास न अन
212.	,,	,,	470	वृत्र त्रिताग्नि न अग्नि द्वादश
213.	,,	,,	467	ईश अवर्णत्रय (स्थूल) अग्नि असि
214.	,,	,,	468	वृत्रेन्द्राग्नि, अग्नि अनान्न, न अन्न
215.	,,	,,	469	वृत्रेन्द्रमिश्र वृत्रत्रय अरनर
216.	,,	CXIV.,	472	अरम्
217.	,,	,,	475	वृत्रमानस-पान-प जश्न
218.	,,	,,	471	पञ्च यमा नकभ्रम
219.	,,	,,	476	} द्विवमन उकारद्वय
220.	,,	,,	477	}
221.	,,	,,	479	स अत्रि अन्न
222.	,,	,,	480	अग्नि (चतुर्दिक्)

क्रमाङ्क	मुद्रा			मुद्रालेख
223.	MIC	CXIV	481	उमा
224.	"	"	482	इंद्रा
225.	"	"	483	इंदु इंद्र
226.	"	"	484	अग्नि
227.	"	"	487	वृत्रजदन
228.	"	"	488	वृत्रवपट्
229.	"	"	490	वृत्र अन्नान्न
230.	"	"	493	ईशमना, न अन
231.	"	"	526b	वृत्र-द-द-द दास
232.	"	"	528b	क
233.	"	"	529	सवृत्र अवर्णत्रय (स्थूल) त्रयाग्नि, अग्नित्रयं अवर्णत्रय वृत्रसा।
234.	"	"	530	... ...
235.	"	"	531	घाताग्नि अंश घात व (रुण) अंश
236.	"	"	532	परापर-अन १ इंद्रा उमा (वामवर्त लिपि)
237.	"	"	499	वृत्रनागद्वय
238.	"	CXVI.,	16	त्रिवृत्रेन्द्रमित्राग्नित्रय त्रिजश्न नागेन्द्र नागत्रय
239.	"	"	20	सवृत्र असि
240.	"	"	15	सवृत्र ईश अमाग्नि असि
241.	"	"	10	राष्ट्राग्नि

पृष्ठ ४६ का शुद्धिपत्र

(कृपया निम्नलिखित विषय पृष्ठ ४६ की पंक्ति १५ के बाद पढ़ें)

विदेहजनक-ज्ञान और कर्म का समन्वय

उपर्युक्त चतुर्विध अग्नि के साथ एक समष्टिवर्ण में वृत्र, अपद्वय तथा मकारद्वय से युक्त 'अन' शब्द का समावेश है। व्यष्टिगत तथ्यों के संदर्भ में अपद्वय अन और अन्न की दृष्टि से क्रमशः सूक्ष्म एवं स्थूल अथवा आध्यात्मिक (ज्ञानमय) और भौतिक कर्म के द्योतक होते हैं तथा उनका स्रोतस्वरूप उभयात्मक मन दो मकारों द्वारा एवं अद्वैत मन एक शीर्षाकार म-वर्ण द्वारा दिखाया जाता है। इसका सब से अच्छा उदाहरण हमें हड़प्पा से प्राप्त एक दोपहली मुद्रा[1] में प्राप्त होता है। इसमे एक शीर्षाकार मकार के नीचे दो चतुर्भुजात्मक संयुक्त मकार है जिनसे दो दंडाकार अवर्णों से प-वर्णों को संयुक्त करके दो बार 'अप' लिखा गया है। और इन दोनों के बीच में 'अन' शब्द इस प्रकार लिखा गया है कि नकार से पैर और अकार से मेरुदण्ड-सा बन जाय; और उसके ऊपर दो संयुक्त मकारों से वक्षस्थल तथा शीर्षाकार मकार से शिर का निर्माण करके एक पुरुषाकृति खड़ी करदी है जिसके दोनों ओर लिखे हुये 'अप' ऐसे लगते हैं मानो पुरुष अपने दोनों हाथो में दो छड़े लटकाये हुये हो।

उक्त मुद्रा के दोनों ओर इस प्रकार का एक-एक पुरुषाकार समष्टिवर्ण है और दोनों के साथ एक ही सा लेख 'अत्रि अम वृख्श' (वृक्ष) लिखा है, परन्तु दोनों के साथ चित्र भिन्न-भिन्न हैं। एक साथ एक ओर तो नाचते हुये दो वही व्याघ्र या सिंह हैं जो अन्यत्र ज्ञान एवं कर्म के प्रतीक होकर लड़ते हुये[2] या अनान्न की संयुक्त इकाई (देह) को, एक दूसरे की ओर खींचते हुये दिखाये[3] गए हैं और दोनों को क्रमशः 'वृत्र नागद्वय'[4] तथा '११ अन्न' अथवा 'अत्रि अग्नि'[5] एवं 'ञान' (ज्ञान ?) नाम दिया गया है। उक्त पुरुषाकार समष्टिवण इस ज्ञान-कर्म-समन्वयशील प्रतीक को ओर बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। दूसरे सिरे पर एक

---

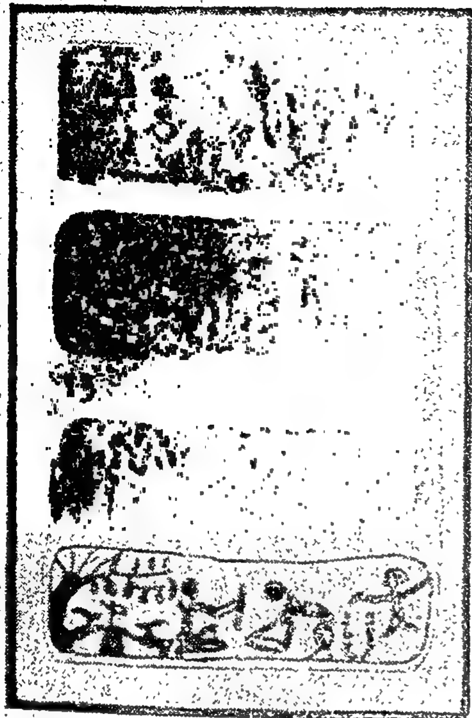
(१) MEH. plate XCIII, seal 304.
(२) वही, plate XCV, seal 454.
(३) वही, plate LXXXV, seal 122.
(४) वही, ,,
(५) वही, plate LXXXIV, seal 72.

पुरुष को शिर के बल इस प्रकार उलटा किया गया है कि वह एक सूखे वृक्ष के ठूंठ सा दिखाई देता है और इसके मूलाधार से प्रस्फुटित होती हुई चार पक्तियों सहित एक नवीन शाखा बनाई गई है जो छान्दोग्य उपनिषद्[1] के निम्न-लिखित वाक्य को चरितार्थ करती है:—

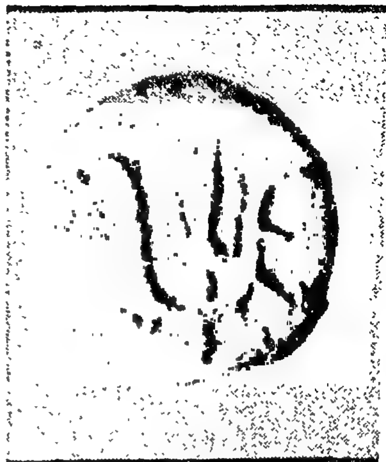
यद्येनत् शुष्काय स्थाणवे ब्रूयात्, जायेरन् एव अस्मिन् शाखा: प्ररोहेयुः पलाशानि—अर्थात् यदि इस सत्य को किसी सूखे ठूंठ से भी कह दिया जाय, तो उसमें भी शाखायें पैदा हो जावें और पत्ते निकलने लगें।"

---

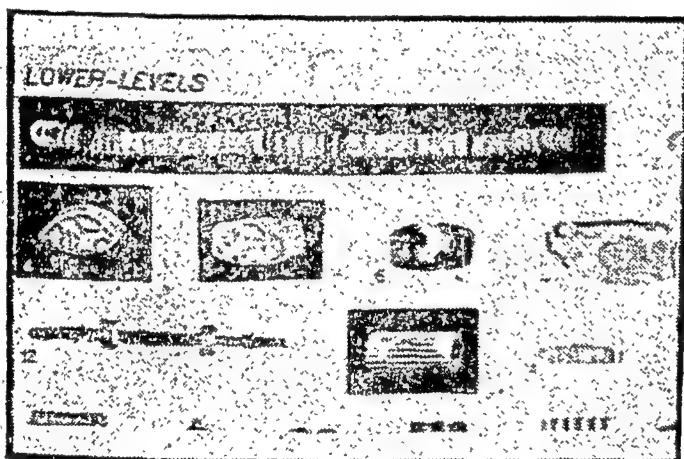
(१) छां० उ० ५, २, ६, ७।



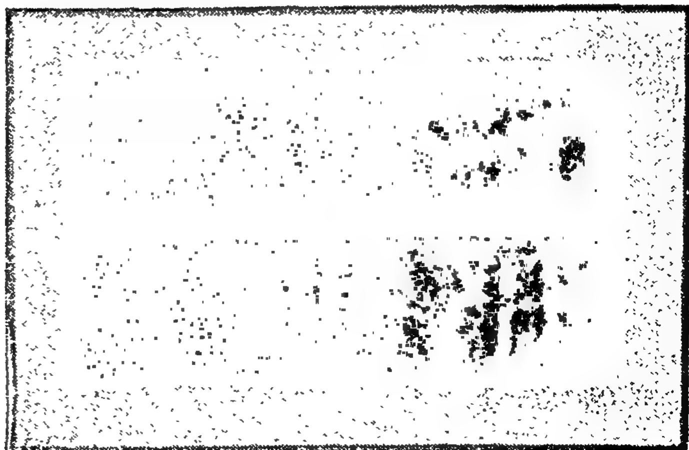
2—MFEM. Pl. XC. 13. a,b,c.



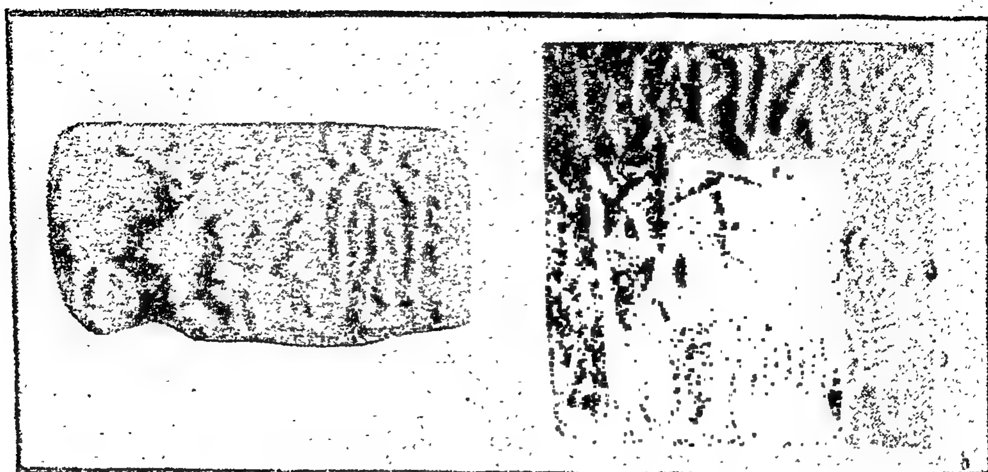
12—MIC. Vol. I. XII. 14.



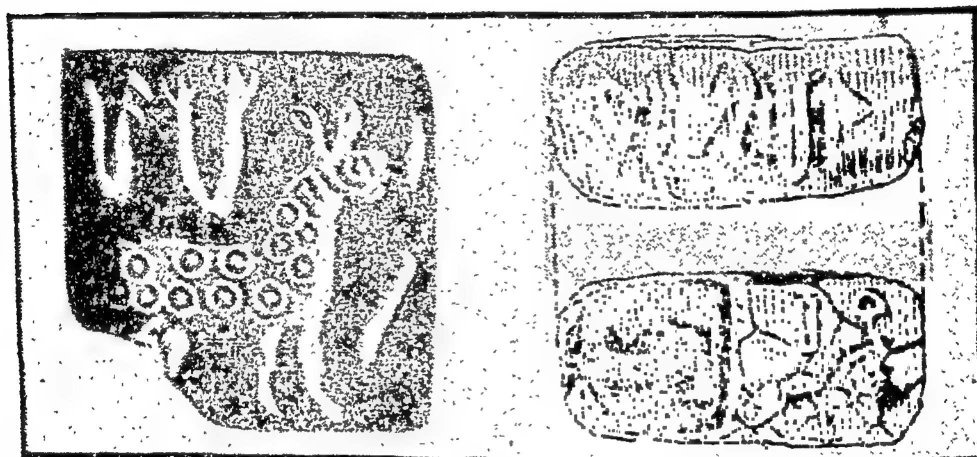
3—MFEM. Pl. CXI. 1.



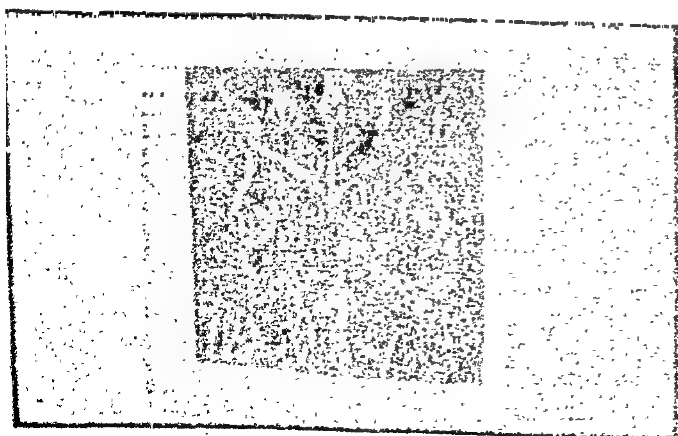
MFEM. XC.



1—MIC. Vol-I Pl. XII. 19.　　　6—MFEM. XCVI. 522.



7—MIC. Vol. III CXII. 385.　　　10—MFEM. CI. 15. a,b.



8—MIC. CXII, 387



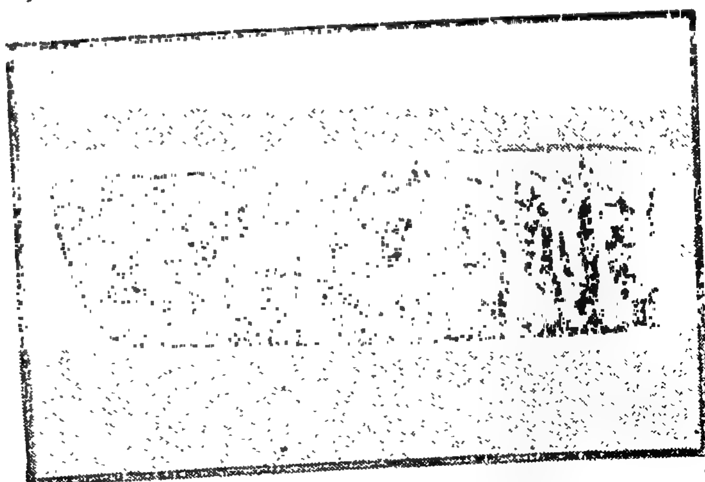
11—MIC. Vol. I. XII. 13.



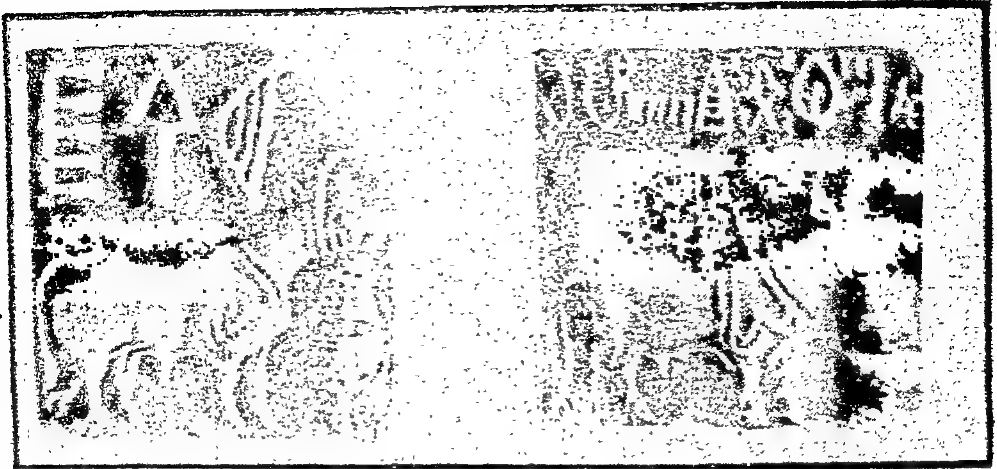
5—MFEM, XC 23, a, b.



9—MFEM, CIV, 10, 11.

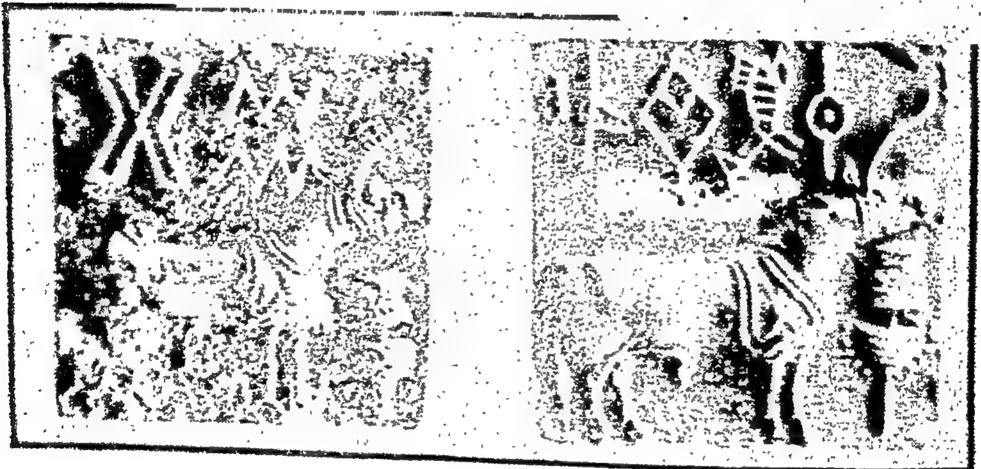


13—MIC, Vol. I, Pl. XII, 22.



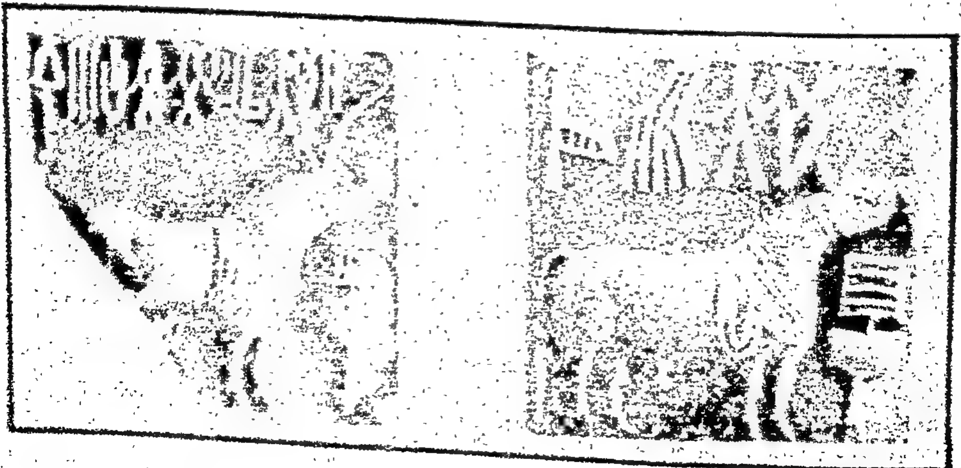
14—MIC. Vol. III. Pl. CV. 46.

15—MIC. Vol. III. Pl. CV. 66.



16—MIC. Vol. III. Pl. CVI. 102.

17—MIC. Vol. III. Pl. CV. 67.



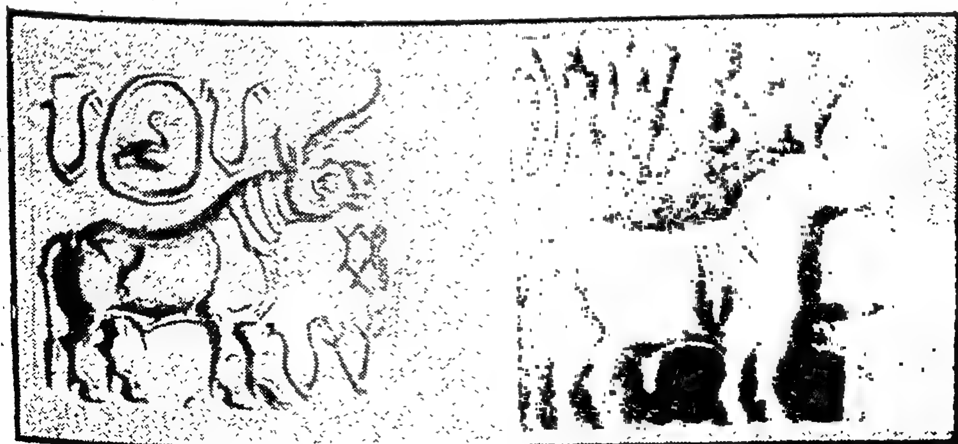
19—MIC. Vol. III. Pl. CV. 65.

18—MIC. Vol. III Pl. CV. 69.

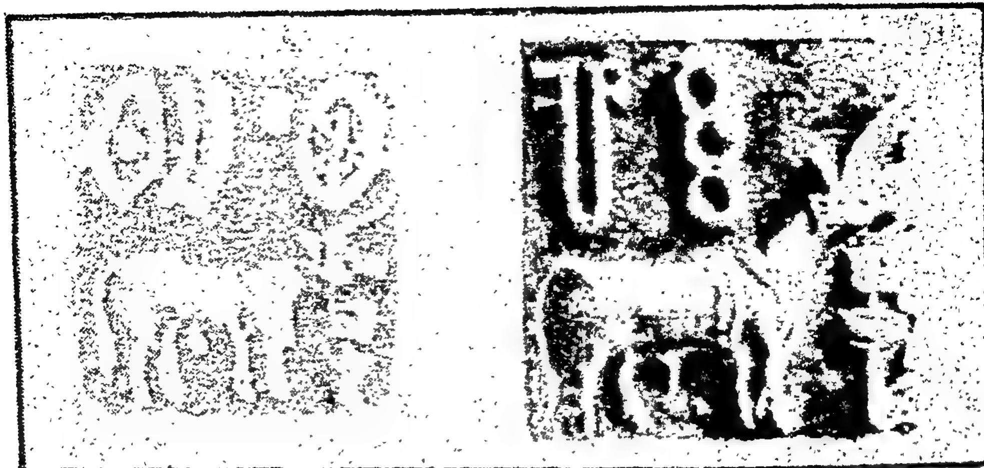
20—MIC. Vol. III. Pl. CV. 59.



21—MIC. Vol. III, Pl. CV. 61.



22—MIC. Vol. III, Pl. CVI, 93. 23—MIC. Vol. III, Pl. CIV, 36.



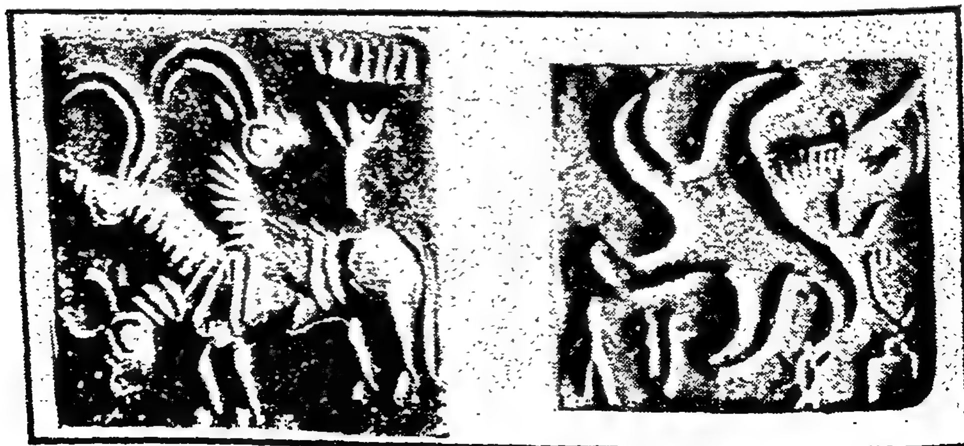
26—MIC. Vol. III, Pl. CIX, 221.

27—MIC. Vol. III, Pl. CIX, 252.



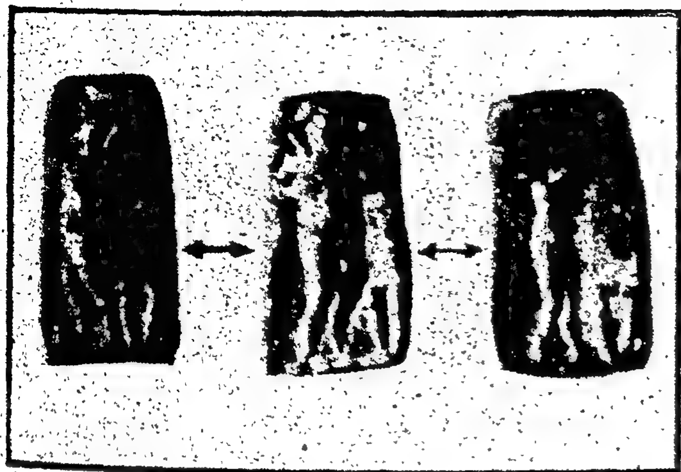
28—MIC. Vol. III, Pl CXII, 378.

29—MIC. Vol. III Pl. CXII, 383.

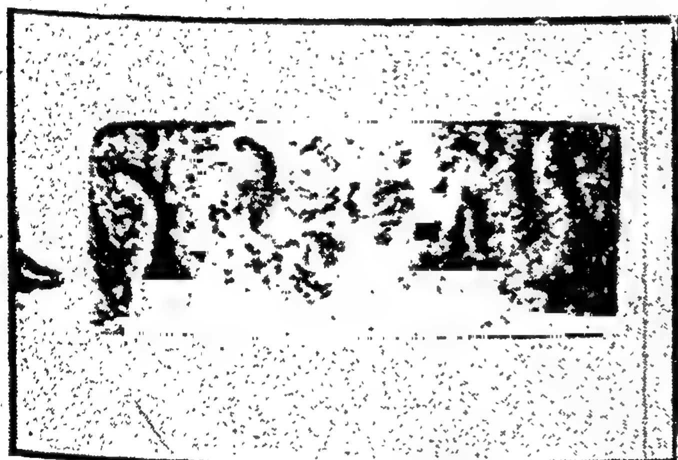


30—MIC. Vol. III, Pl. CXII, 382.

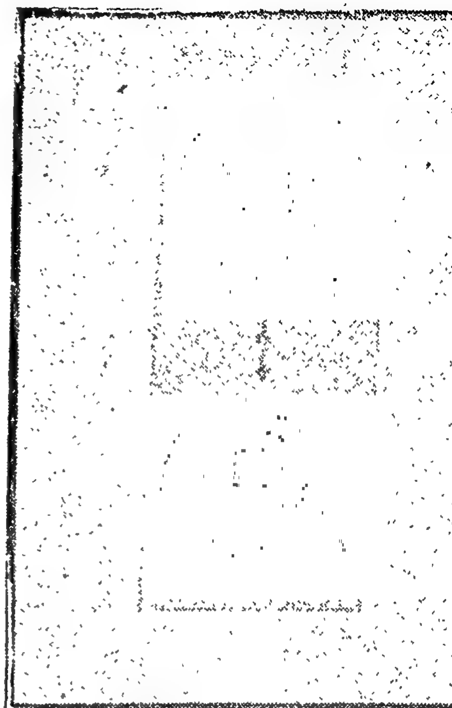
31—MFEM. Pl. XCVIII, 641.



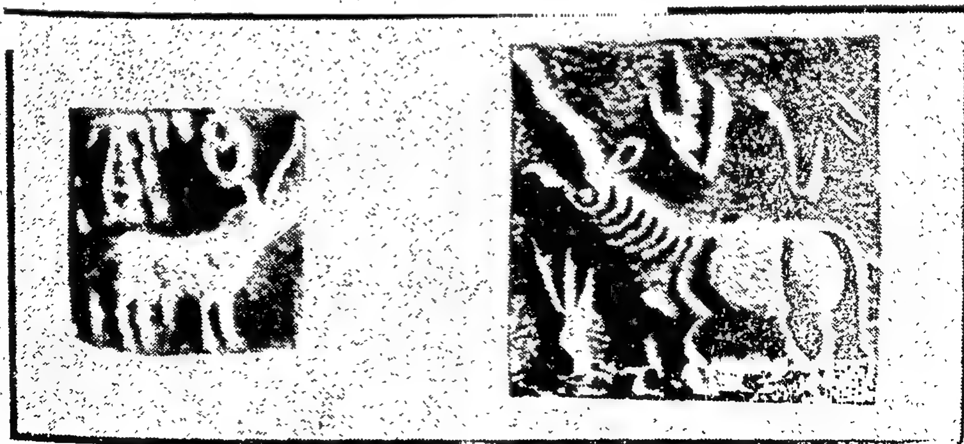
33—MEH, Pl. XCIII, 305.



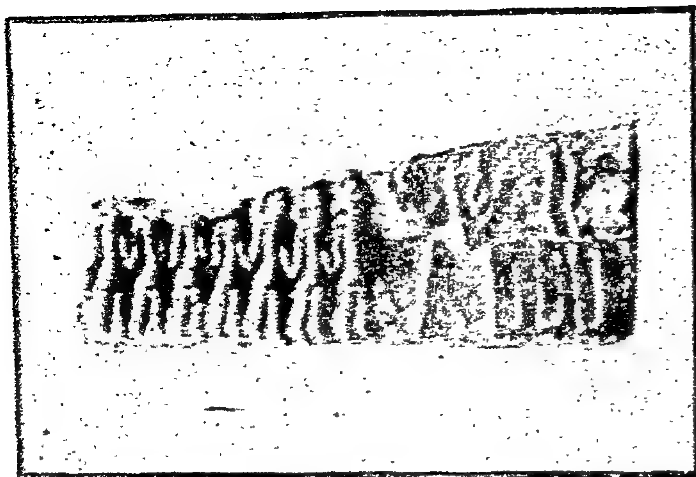
34—MFEM. Pl. CIII, 9.



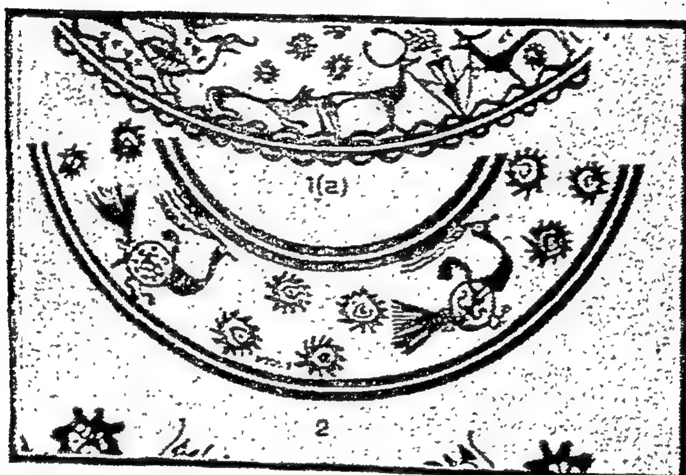
37—MEH. Pl. XCIII, 317.



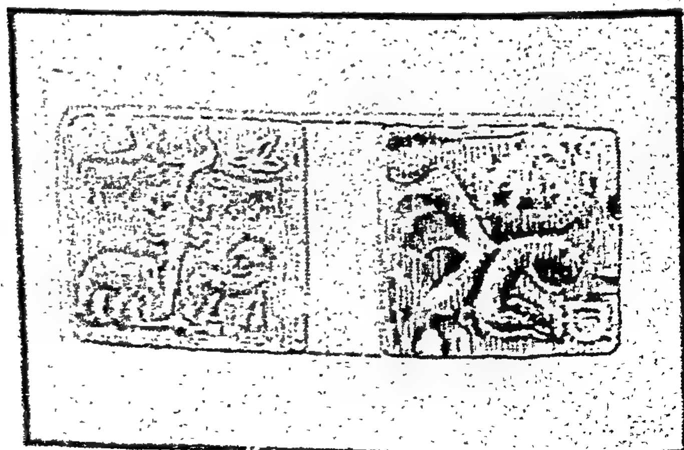
24—MIC. Vol. III, Pl. CX, 274. 25—MIC. Vol. III, Pl. CVIII, 167.



39—MEH, Pl. XCI, 251.



40—MEH. Pl. LXII, 2



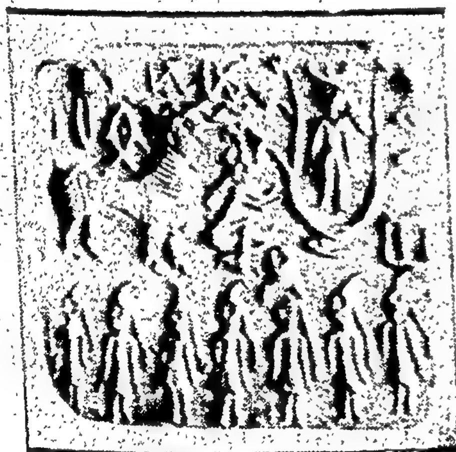
41—MFEM Pl. XCII, 10.



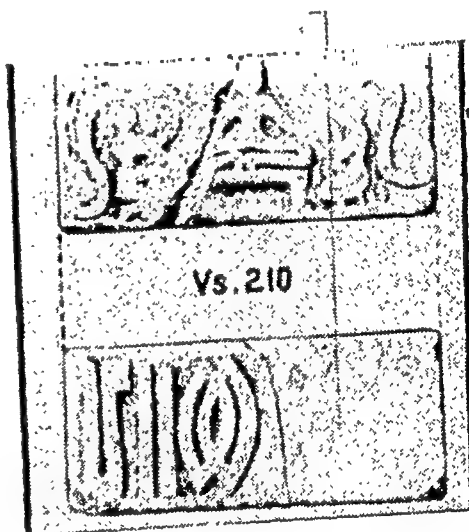
32—MFEM, Fl. XCVI, 530.



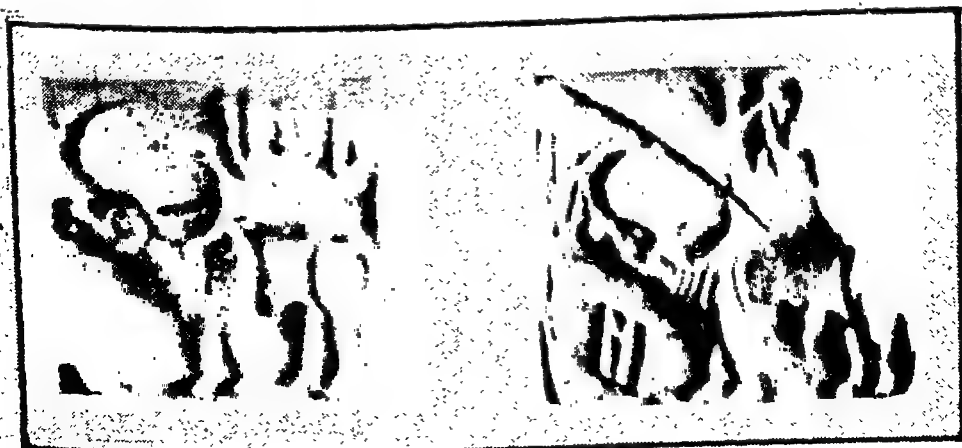
36—MEH, Pl. XCIII. 316.



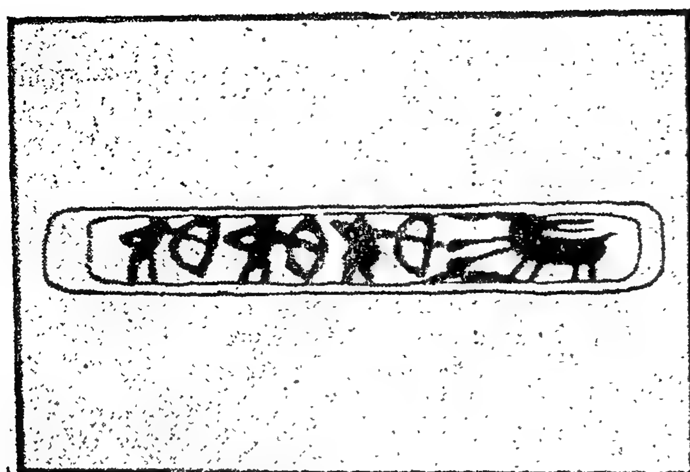
38—MFEM, Pl. XCIX, A.



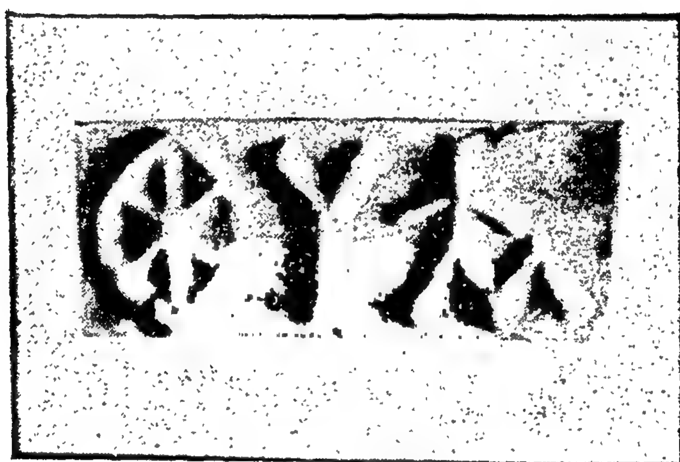
35—MIC. Vol. III, Pl. CXVIII, v.s. 210.



47—MFEM. Pl. XCIX. 663. 48—MFEM, Pl. LXXXVIII, 279.



49—MFEM, Pl. XCI. 24.



56—MFEM, Pl. LXXXIV, 101.

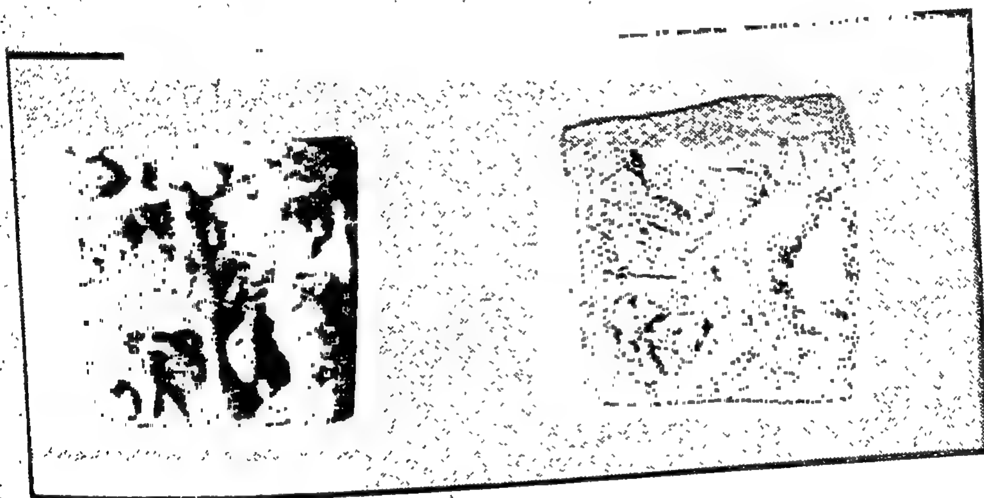


57—MFEM, Pl. XCV, 468.



42—MFEM, Pl. C III, 16.

44—MFEM, Pl. XCI, 12.



43/1—MFEM, Pl. XCII, 2-a.

43/2—MFEM, Pl. XCII, 2b.



45—MFEM, Pl. XCVI, 510.

46—MFEM, Pl. C, E.



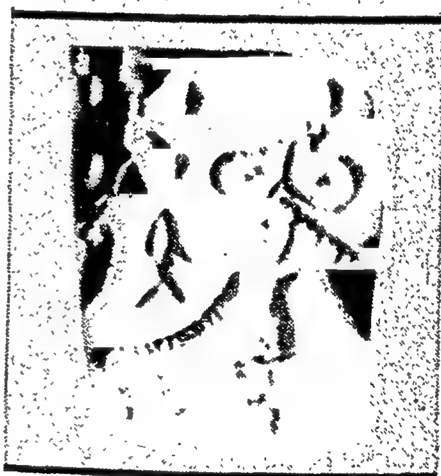
50—MFEM, Pl. LXXXVII, 222.



51—MFEM, Pl. C, F.



52—MEH, Pl. XCIII, 318.



53—MFEM, Pl. LXXXVII, 235.



54—MFEM, Pl. XCVII, 554.



55—MFEM, Pl. XCVIII, 628.

शङ्करीसङ्गीतम्

[गोस्वामि श्री लक्ष्मीनारायण दीक्षित]

ग्रन्थनाम

कवि जयनारायण ने प्रस्तुत लघुकाव्य का नाम 'शङ्करीसङ्गीतम्' रखा है जो कि प्रत्येक पटल की पुष्पिका 'इति श्रीशङ्करीसङ्गीते गोत्रोत्थानं नाम प्रथमः पटलः' आदि तथा अन्तिम पटल में उल्लिखित प्रशस्ति-पद्य से स्पष्ट है:—

सप्रज्ञाविषयानुरूपचरितं क्षेमङ्करं यन्मया,
सद्भक्ताय जयादिना द्विजनुषा नारायणेनाऽचिरात् ।
क्रूराकारणदुर्विवादघटनात् पर्य्यस्यतां शङ्करी-
सङ्गीतं तदिदं सतां वितनुतां संशृण्वतां श्रीततिम् ॥१०॥

ग्रन्थारम्भ में कवि ने 'जगदम्बा-चरित्रम्'[1] का उल्लेख किया है। सङ्गीत के माध्यम से शङ्करी अर्थात् शङ्करपत्नी पार्वती जगदम्बा के विमल चरित्र का वर्णन १२ पटलों में होने से इस काव्य का नाम 'शङ्करीसङ्गीतम्' सार्थक ही प्रतीत होता है।

कवि जयनारायण

कवि का सत्ताकाल क्या है, वह कहाँ का निवासी और उसकी कौन-कौन सी कृतियां हैं? आदि ऐसे ही अनेक प्रश्नों का समाधान साधनाभाव के कारण नहीं किया जा सकता। कवि ने इस काव्य के १२ वें पटल की प्रशस्ति में अपने पूर्वजों की १७ पीढ़ियों का तथा स्वयं के पौत्रों का उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु ग्रन्थ का रचनाकाल नहीं दिया है। फिर भी रचना-शैली और ग्रन्थोद्धृत राग-तालों के नामोल्लेख के आधार पर अनुमानतः कवि का समय विक्रमी १९ वीं शताब्दी माना जा सकता है। कवि जयनारायण ब्रह्मकुलीय कृष्णचन्द्र का पुत्र था। कवि द्वारा वर्णित वंशावली इस प्रकार है—

---

१. अप्रवाऽस्मिन् प्रयत्नो मे निष्प्रत्यूहं फलिष्यति।
जगदम्बाचरित्रं हि प्रत्यूहव्यूहनाशनम् ॥ प्रथम पटल—पद्य ३

ब्रह्मकुलीय शिर

उधो

कोच

आभ

यश

उदय

वाणेश्वर

विश्वनाथ

कंसारि

श्रीधर

यदुनाथ पाठक

गोपीकान्त

रामकृष्ण

राजेन्द्र

विष्णुदेव

दुलाल कन्दर्प

कृष्णचन्द्र

जयनारायण

कालीशङ्कर

काशीनाथ सत्यप्रसाद सत्यकिङ्कर सत्यचरण घोषाल सत्यशरण सत्यप्रसन्न सत्यभ

कवि ने प्रशस्ति पद्य ७ में छः पौत्रों का उल्लेख किया हैं, किन्तु पद्य ९ में 'इति षण्णां कुमाराणां सत्यभक्तस्तु सप्तमः' कह कर सातवें पौत्र सत्यभक्त का निर्देश किया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि सत्यभक्त पालित-पौत्र हो।

काव्यपरम्परा एवं कथासार

प्रस्तुत लघुकाव्य गेय-काव्य-परम्परा में आता है। सङ्गीतप्रधान गेय-काव्य की रचना लक्षणप्रधान काव्य-रचना की अपेक्षा कवि के लिये अधिक कठिन होती है; क्योंकि कवि को गेयकाव्यों में काव्य-लक्षणों के साथ-साथ सङ्गीत-शास्त्र के बन्धन (कोमल, मध्यम, तीव्रादि स्वरों एवं विविध तालों) का भी सम्यग् रूप से निर्वाह करना पड़ता है। यही कारण है कि गेय-काव्य-कृतियाँ अत्यल्पमात्रा में ही प्राप्त होती हैं।

गेयकाव्यों में सर्वप्रथम कृति महाकविजयदेव (१२ वीं शताब्दी) द्वारा प्रणीत लोकविश्रुत 'गीतगोविन्दम्' प्राप्त होती है। इसके पश्चात् तो कवि जयदेव की पद्धति का अनुकरण कर अनेक कवियों ने गेय-काव्यों की रचनायें की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य रचनायें विशेषतः उल्लेखनीय हैं –

१. कविसोमेश्वररचिता कृष्णगीतिः[1]
२. प्रबोधानन्दसरस्वतीप्रणीतं माधवसङ्गीतम्[2]
३. कविकलानिधिश्रीकृष्णभट्टविरचितं रामगीतम्[3]
४. रामभट्टकृतं गीतगिरीशम्[4]
५. भानुदत्तमिश्ररचितं गीतगौरीशसङ्गीतम्[5]
६. विश्वनाथसिंहदेवकृतं संगीतरघुनन्दनम्[6]
७. चारुकीर्त्तिकृत गीतवीतराग[7]

---

१. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित।
२. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में प्राप्त।
३. इसकी प्रति मुनि कान्तिसागरजी के पास प्राप्त है।
४. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में प्राप्त।
५. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में प्राप्त।
६. इसका सम्पादन डॉ० दशरथ शर्मा कर रहे हैं, और यह शीघ्र ही रा० प्रा० वि० प्र० जोधपुर से प्रकाशित होने वाला है।
७. जैन सिद्धान्त भवन, आरा में प्राप्त।

८. विनयविजयकृत शान्तसुधारस[1]

९. पुण्यशीलगणिकृतानि चतुर्विंशति-जिनस्तवनानि[2]

१०. शिवचन्द्रोपाध्यायकृत स्तुतिकुसुमाञ्जलि आदि स्फुट रचनायें

कवि जयनारायण शङ्करी (पार्वती) को केवल शङ्करपत्नी के रूप में ही स्वीकार नहीं करता है, अपितु वह शङ्करी को त्रिलोकजननी, जगदम्बा, मीन-कच्छप - नरसिंह - वामन - परशुराम - रावणारि रामचन्द्र - कृष्ण - कल्कि आदि अवताररूपा, दुर्गा, महालक्ष्मी, भैरवी, बगलामुखी, आद्यशक्ति, पराशक्ति, ज्योतिर्मयी, चिन्मयी शक्तिस्वरूपा भगवती के रूप में भी स्वीकार करता है।

कवि ने प्रस्तुत काव्य के गोत्रोत्थान, बाल्यलीलावर्णन, नारद-समागम, मेनाविलाप, काशीप्रस्थान, वसन्तवर्णन, शिवसम्भाषण, एकाम्रवनगमन, गोष्ठवर्णन, विरहवर्णन, दूतीसंवाद एवं रासवर्णन-नामक १२ पटलों में शङ्करी (पार्वती) के जन्म से लेकर शङ्कर से विवाह एवं रासलीला-पर्यन्त जिस चरित्र-कथा का वर्णन सहज एवं सुललित वाणी में आबद्ध किया है उसका सारांश इस प्रकार है—

हिमालय की पत्नी मेना की कुक्षि से आद्यशक्ति ने जन्म-धारण किया। बाल्यक्रीड़ा करती हुई पार्वती क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुई। एक समय विचरण करते हुए महर्षि नारद हिमालय के यहाँ पहुँचे और उन्होंने भगवान् शङ्कर के स्वरूप का वर्णन किया, जिसे सुनकर पार्वती शिव को प्राप्त करने के लिये उत्कण्ठित हो गई और वाराणसी जाने के लिये आतुर हुई। पार्वती की अभिलाषा को सुनकर माता-पिता, सखीजनों और पौरजनों को महादुःख हुआ और उन्होंने उसे रोका भी, किन्तु पार्वती ने काशी के लिये प्रस्थान कर ही दिया। काशी पहुँच कर पार्वती ने ब्रह्मचारिणी का रूप धारण किया और वह शिव को प्राप्त करने के लिये उग्रतम तपश्चर्या करने लगी। शम्भु ने अन्यरूप में आकर पार्वती की परीक्षा ली और उसे शिव-प्राप्ति की अभिलाषा से विमुख करने के लिये संवाद-सम्भाषण भी किया। पार्वती अडिग रही और वहाँ से एकाम्रवन में जाकर शङ्कर की आराधना करने लगी। पार्वती की एकनिष्ठ तपस्या एवं लगन को देखकर शङ्कर प्रसन्न हुए और पार्वती को अर्द्धाङ्गिनी के रूप में स्वीकार कर रमण-लीला में प्रवृत्त हुए।

---

१. महोपाध्याय विनयसागर द्वारा सम्पादित एवं सुमति सदन, कोटा से प्रकाशित।

२. म० विनयसागर संग्रह, कोटा में प्राप्त।

कवि-वैशिष्ट्य

इस लघु रचना को देखते हुए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि जयनारायण कवि का व्याकरण, कोष एवं लक्षणशास्त्र पर अच्छा अधिकार था। यह रचना दोषरहित और सुललित सालङ्कार शब्दावली में गुम्फित की गई है। कवि ने इस लघु-काव्य में निम्नलिखित २२ छन्दों का प्रयोग किया है—

अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रोपजाति के १४ भेदों में से—कीर्त्ति, वाणी, शाला, हंसी, भद्रा, प्रेमा, ऋद्धि, बुद्धि वंशस्थ, वंशस्थेन्द्रवंशोपजाति के १४ भेदों में से—शिशिरा, कुमारा द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, वसन्ततिलका, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा।

संस्कृत-साहित्य के साथ-साथ कवि का संगीत-शास्त्र पर भी पूर्ण अधिकार था। यही कारण है कि इस छोटे से काव्य में कवि ने निम्नलिखित २५ रागों और ९ तालों का आयोजन कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

राग भैरव, ललित, विभास, रामकेलि, षट्, श्री, आशावरी, तोडी, काफी, पूरबी, गौरी, वसन्त, यमन, कानोड, खम्माच, धन्यश्री, चिडी, सारङ्ग, हम्मीर, अडाना, विहाग, जयजयन्ती, केदार, परज और मालकोष।

ताल—चौताल, मूलताल, मध्यमानताल, टोटचौताल, रूपकताल, तेयोट-ताल, हेटचौताल, खवेरावादी ताल तथा सूरफाक ताल।

इसके अतिरिक्त कवि जयनारायण केवल विशिष्ट कवि ही नहीं, अपितु वह पराम्बा-शङ्करी का अनन्य उपासक एवं आगमशास्त्र अर्थात् तंत्र-शास्त्र का मर्मज्ञ विद्वान् भी था जैसा कि ग्रन्थारम्भ में की गई दश, महाविद्यात्मका भगवती की गीत-स्तुति से एवं ग्रन्थान्त में उद्धृत अन्तिम गीत के २ रे पद्य से स्पष्ट होता है—

लयसमरे जलराशौ रक्षसि मग्नं, जगदुपकृतये वेदमभग्नम् ॥१॥ (प्र०प०)
धूमावति मीनदेहे जय जगदम्ब शिवे! (ध्रुवम्)
नानापथविकलानां जगतीनां च भवन्तौ,
सदयनमुपदेष्टारौ श्रुतमिदमागममुक्तम्।
तत्किं नो दिशतोऽस्मान् प्रति कापथमनुयातान्,
कल्मषकष्टकदलितान् मृषयत इति तदयुक्तम् ॥२॥ (द्वि प०)

प्रति-परिचय

प्रस्तुत 'शङ्करीसङ्गीतम्' की एकमात्र हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित-ग्रन्थ-संग्रहालय में उपलब्ध है। इस प्रति का विवरण निम्नलिखित है—

ग्रन्थाङ्क—३६३७२
नाम—शङ्करीसङ्गीतम्
कर्त्ता—कवि जयनारायण
आधार—कागज
लिपि—देवनागरी
साइज—२८३ सी० एम०×१३६ सी० एम०
पत्र—१६
पंक्ति—११
अक्षर—३८
भाषा—संस्कृत
समय—विक्रम संवत् १९१७ जोधपुर।
विशेष—लिपिकार की अज्ञता के कारण प्रति शुद्ध नहीं है। दुर्लभ्य एवं अन्यत्र अप्राप्य कृतियों में से है।

उक्त काव्य का सम्पादन एकमात्र इसी प्रति के आधार पर किया गया है और प्रतिगत पाठ का यावच्छक्य यथामति संशोधन कर दिया है। पाठकों की सुविधा के लिये संशोधित पाठ मूल रूप में और अशुद्ध पाठ पादटिप्पणियों के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

हर्ष का विषय है कि राजस्थान-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान के निदेशक समादरणीय डॉक्टर श्रीफतहसिंहजी के निर्देश एवं निदेश का ही फल है कि यह 'शङ्करीसंगीतम्' काव्य विद्याविनोदी एवं संगीतरसज्ञ विद्वानों के कर-कमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है जो कि इतः पूर्व अत्यन्त दुर्लभ्य होने के कारण जिज्ञासा एवं गवेषणा का विषय बना हुआ था। आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि लोककल्याणसन्धात्री माता शङ्करी के दिव्यचरित्रात्मक इस काव्य को पढ़ कर काव्यप्रेमी एवं श्रद्धालु विद्वान् सन्तोष तथा परमानन्द का अनुभव करेंगे।

——

कविश्रीजयनारायणप्रणीतम्

शङ्करीसङ्गीतम्

[जगदम्बाचरित्रम्]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ ॐ दुर्गायै नमो नमः ॥

आनन्दतुन्दिलपुरन्दरमन्दभुक्त —
मन्दारदामविगलन्मकरन्दसिक्तम् ।
वन्दे गिरीन्द्रतनयाचरणारविन्दं,
योगीन्द्रवृन्दहृदयभ्रमरावलीढम् ॥१॥

क्व त्रिलोकजननीचरित्रकं, क्वाऽपि मन्दविषया मतिर्मम ।
भूहिता ह्यवचिचुरस्म्यहं, नाकशाखिकुसुमानि[2] पाणिना ॥२॥

अथवाऽस्मिन् प्रयत्नो मे निष्प्रत्यूहं फलिष्यति ।
जगदम्बाचरित्रं हि प्रत्यूहव्यूहनाशनम् ॥३॥

चौताल भैरवरागः

कलिभयमपहर करुणां सुवितर सकलभुवनकृतसेव ।
त्वयि मम नतिततिरविरतिरतिगतिहीनगतिद गुरुदेव ॥१॥४॥
दशशतदलजलजातनिकेत, जय जय परमब्रह्मद नाथ । ध्रुवम् ।
त्वममरतरुरिति गदित इह, जगति कलयसि याचककामम् ।
विपदमतिशमय मम परिपूरय, हृदभिलषितमविरामम् ॥२॥५॥
तव करुणालव-भवबोधनमव, बाधितविषयविकारम् ।
भवनिगडदलनकारणमतुलनमागमकृतमिति सारम् ॥३॥६॥
जयनारायण इति भणति, शमनदमनमखिलसुखनिलयम् ।
गुरुपदकमलं रसमयममलं, मधु पीयन्तं मम हृदयम् ॥४॥७॥

---

१. हि अवचेतुमिच्छुरित्यर्थः ।
२. पुस्तके तु 'नाकसाखि०' इति पाठः ।

मूल-ताल भैरवरागः

लयसमरे जलराशौ रक्षसि मग्नं, जगदुपकृतये वेदमभग्नम् ॥१॥८॥

धूमावति मीनदेहे जय जगदम्ब शिवे ! ॥ ध्रुवम् ।

तव पृष्ठे विपुले सचराचरकीर्णा, सन्ततमस्ति धरणिरविशीर्णा ॥२॥६॥

वगलामुखि कमठरूपे जय जगदम्ब शिवे ! ॥ ध्रुवम् ॥

खरनखरं तव करकमलं परमकृशं, हिरण्यकशिपुं दारयति भृशम् ॥३॥१०॥

छिन्नमस्ते नृहरितान जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

करुणारसमपहाय वलिं[1] निजदासं, अमरकृते गमयसि कणिवासम्[2] ॥४॥११॥

भुवनेश्वरि वामनतान जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

नृपकुलरुधिरजलैर्जगदविदितसीमं, शमयसि कोपानलमतिभीमम् ॥५॥१२॥

सुन्दरि धृतभार्गवतान जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

हत्वा दशवदनं युधि तदनय[3]-दुःस्थं, निखिलं भुवनं जनयसि सुस्थम् ॥३॥१३॥

तारे धृतरामरूपे जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

वक्षसि कराम्बुरुहेण हलं शितधारं, रिपुगणदेहक्षत्रविदारम् ॥७॥१४॥

भैरवि धृतहलिशरीरे जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

स्वकथितवेदमहो कथयसि विपरीतं, त्रिजगज्जनयसि मोहपरीतम् ॥८॥१५॥

महालक्ष्मि विश्वरूपे जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

समरशिरसि सवलं विनिहंसि च कंसं, परमं न [हि] दयसे यदुवंशम् ॥६॥१६॥

श्यामे धृतकृष्णरूपे जय जगदम्ब शिवे ॥ध्रुवम् ।

हंसि म्लेच्छचयान् विनिधृत्य कृपाणं, भूत्वा द्विजतनयो वहुशाणम् ॥१०॥१७॥

दुर्गे धृतकल्किकाये[4] जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ।

श्रीजयनारायणभणितं रमणीयं, शृणुत वुधाः सुरनरकमनीयम्[5] ॥११॥१८॥

तारिणि धृतदशविधतान जय जगदम्ब शिवे ॥ ध्रुवम् ॥

वेदोद्धारं धरित्रीधरणमसुरहृद्दारणं नागलोके,

सम्प्रस्थायं बलेश्च क्षितिपतिविजयं निर्जयं रावणस्य ।

---

१. पुस्तके—'वलि' इति पाठः ।

२. पाताललोकमित्यर्थः ।

३. पुस्तके—'तद्धनय' इति पाठः ।

४. पुस्तके—'धृत्य०' इति पाठः ।

५. पुस्तके—'सुरनरकमपीयम्' इति पाठः ।

क्रादानं व्याच्छलस्य(?) श्रुतिपथसमुपालम्भनं कंसनाशं,
म्लेच्छोद्ग्रासं क्रमाद्[1] या रहसि कृतवती तां नमाम्याद्यशक्तिम् ॥१९

मूलताल ललितरागः

भवभयभञ्जन-जनहृद्रञ्जन[2]-मञ्जुलचरणसरोजे !
नखरसुधाकरकरपरिवारितमायातिमिरसमाजे ! ॥१॥२०
जय जय सुरार्च्चिते ! । ध्रुवम् ।
त्रिभुवनभवन-विपालन-विलयन-लीलाकारणभूते !
कृतनिजचारण-दुःखनिवारणि[3] करुणानिकरपरीते ! ॥२॥२१
मृगपतिवाहिनि मुक्तिविधायिनि निर्गुणसगुणकशीले !
असुरविदारण-सुरकुलपालन-विरचितबहुभवलीले ! ३॥२२
कथयति सेवकजयनारायण इह भवसागरभीतः ।
कृपया मामभितारय तारिणि ! भजनरहितमिति मात. ! ॥४॥२३

प्रातः प्रेमभरालसा निजसखीमालासमेता किल,
मेना भूधरराजधर्मगृहिणी निद्रावती पार्वतीम् ।
लीलादेहविधारिणीं भगवतीं ज्योतिर्मयीं चिन्मयीं,
संप्राबोधयताऽमिताक्षरयुतैर्वाक्यैर्जगन्मङ्गलैः ॥२४

मध्यमानताल विभाय(स) रागः

तव पदपल्लवनखरतुलनमिव नैव समेत्यकलङ्की[4] ।
जलधिपयसि परिमज्जति शीतकरः परिभवशङ्कि: ॥१॥२५
शशधरवदने खञ्जननयने परिहर शयनमिदानीम् । ध्रुवम् ।
किसलयलोहितविमलचरणतलतुलनामाप्तुमिवैषः[5] ।
दिवसमुखे तपनं तव परमधिगच्छति विद्रुमभासः ॥२॥२६
मृदुपवनावलिकम्पितचम्पकमालाहिमकणभारम् ।
तव चरणाङ्गुलिगमित-तिरस्कृतिरिव सृजतीक्षणनीरम् ॥३॥२७

---

१. 'क्रमाद्' इति पाठः पुस्तके ।
२ 'जनमनरञ्जन' इति पुस्तके ।
३. पुस्तके-'०निवारण' इति पाठः ।
४. 'सम्पेत्य०' इति पुस्तके ।
५. '०तुलनामाप्ति०' इति पुस्तके पाठः ।

कूजति[1] कोकिलकुलमतिमञ्जुलमधिविपिनं वनदेवैः ।
वच इव तव परिबोधजनकमभियुक्तं मधुरविरावैः ॥४॥२८
भवनवहिः परितिष्ठति वत्से ! तुल्यवयः[2] पुरबालम् ।
तव रचिताञ्जलिखेलनमिच्छत्युपहृतपुष्करमालम् ॥५॥२९
श्रीजयनारायणभणिताखिलमेनावचनमुदारम् ।
परिकलयत इह दुर्गा निदिशतु दुर्गभवार्णवपारम् ॥६॥३०

इत्याकर्ण्य गिरं प्रबोधजननीं मायाजनन्याः शुभां,
विश्वेषां जननी मुखाब्जरुचिभिर्विद्योतयन्ती दिशः ।
[3]ईषत्काम्यवती सती त्रिजगतीचैतन्यरूपा मुहुः,
स्मृत्वेशं शयनात् समुत्थितवती पायाज्जगत्पार्वती ॥३१

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते गोत्रोत्थानं नाम प्रथमः पटलः ॥१॥

द्वितीयः पटलः

ततः समाहृत्य शुभात्मकानि, द्रव्याणि रत्नासनसंस्थितां ताम् ।
पुराङ्गनाभिः सह शैलजाया, निर्मज्जयामास[4]यथाभिलाषम् ॥३२
पद्मालया किञ्च पुलोमजेयं, श्रेयःस्तुतिः किञ्च हिमालयस्य ।
शरीरिणीं तामवलोक्य सर्वा, ननादिनो[5] विस्मयमापुरीषत्[6] ॥३३
[7]नेत्राम्बुभिस्तत्पुरसुन्दरीणां, चितं तदनं (तदङ्ग?) क्रमशः पतद्भिः ।
आक्षेपसूत्रेण विनाऽपि मालामिन्दीवराणां[8] रचितां बिभर्ति ॥३४

---

१. 'विकुजति' इति पुस्तके ।
२. 'तुल्यवयोः' इति पाठः ।
३. 'इषद्काम्यवती' इति पुस्तके ।
४. 'निर्मञ्जुयामास' इति पुस्तके ।
५. 'नगादिना' इति पाठः ।
६. '०मापुरिषं' इति पुस्तके ।
७. 'मैत्रजलं' इति पुस्तके । 'नेत्राञ्जनं' रित्यपि पाठः संभाव्यः ।
८. '०मिन्दीवराणी' इति पुस्तके ।

मुक्त्वा हि विद्वेषि सुधाकरस्य, सरोरुहं काव्यविदो वदन्ति ।
मुखेन्दुमालोकयतां हि तस्या जहुर्द्द गङ्गानि निमीलनानि ॥३५

यस्या वैभवलेशमात्रकथने वेदाः परं कुण्ठिता
ब्रह्माद्या यदनुग्रहप्रणयिनो[1] दौवारिकत्वं गताः ।
पित्रोः प्राज्यमुपार्जितोग्रतपनात्[2] पूर्णं विधातुं फलं,
भक्ताधीनतया तथा बहुविधा [3]लीलास्ततश्चक्रिरे ॥३६

मध्यमान-ताल रामकेलिरागः

मत्तकरीन्द्रसुमन्दगता दरदोलितसुन्दरवासाः ।
गायति चामितकण्ठगुणं पिककण्ठविकुण्ठनभाषा ॥१॥३७
हिमगिरिराजसुता ललिता नृत्यति नववनितालियुता । ध्रुवम् ।
चञ्चलनूपुरमञ्जुलशिञ्जितगञ्जितहंससमाजा ।
अञ्जनगञ्जनखञ्जनगर्वविखर्वणनयनसरोजा ॥२॥३८
मन्दगलच्छ्रमवारिलवादरविलुलितललितशरीरा ।
प्रातरिवानिलकम्पितकल्पलतापरिगलिततुषारा ॥३॥३९
चारुसखीगणमध्यगता रुचिरोचितभुवनविताना ।
तारापटलविमण्डलिता शशिलेखा हर्षविधाना ॥४॥४०
वादयते मृदुवेणुवरञ्जननी-विनिहितनवनीतम् ।
अस्ति ददाति सखीवदनाब्जे चार्द्धमधुररसपूतम् ॥५॥४१
वर्णितमेतदुमाचरितं ललितं सततं परिपूतम् ।
श्रीजयनारायणकविना कुरुतामति जगतामतिशातम् ॥६॥४२

तां दृष्ट्वा हृष्टचेता हिमगिरिवनिता जन्मजन्मार्जितानां,
पुण्यानां पूर्णमाप्तं फलमिव सहसा नेत्रधारां वहन्तीम् ।
नृत्यन्तीं प्राङ्गणान्ते[4] स्मितरुचिरुचिरां पद्मजाद्यैरवेद्यां,
प्रोच्चैः प्रोवाच वाचोऽचलकुलतिलकं पूर्णकामा हिमाद्रिम् ॥४३

---

१. '०यदनुग्रह०' इति पाठः ।
२. '०तपनां' इति पुस्तके ।
३. 'लीलां' इति पाठः ।
४. '०मन्दगतां' इति ।
५. 'प्राङ्गनास्ते' इति पुस्तके ।

होटचौताल खट(षड्)रागः

ताण्डवलोलसुलोहितकिरणपदाम्बुजविरचितभूषम् ।
उदयशिखरितटमिव नवसमुदितदिनपतिविततविलासम् ॥१॥४४
पश्य ममाङ्गनमुमया शोभितमचल ! विचित्रमिदम् ॥ ध्रुवम् ।
चारुचरणविनिवेशनलाञ्छनलाञ्छितमध्यविभागम् ।
अविरलविकसितनिर्मलशतदलचितमिव शरदि तडागम् ॥२॥४५
[1]काञ्चनपीतमयूखविकाशिततनुलतया समुपेतम् ।
अम्बरमिव रुचिरं परिखेलितसुस्थिरचपलाजातम् ॥३॥४६
स्फुरदभिराममरीचिचयाननमण्डलया कृतचारम् ।
शशधरलेखावयवदिवापि[2] मनोहरविहितविहारम् ॥४॥४७
श्रीजयनारायणकविना परिवर्णितमेतदुदारम् ।
सततं श्रवणपुटेन निपीतं सुखयतु कोविदवारम् ॥५॥४८

संसारार्णवपारसेतुरखिलानन्दैककेलिस्थली,
[3]खेदच्छेदिसमस्ततीर्थनिलयो मोक्षस्य मुख्यायनम् ।
[4]सर्वाभीष्टफलैकसंवितरणश्रीकल्पभूमीरुहः,
श्रीदुर्गाचरणारविन्दमखिलं पायात् जगत्सन्ततम् ॥४९

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते बाल्यलीलावर्णनं नाम द्वितीयः पटलः ॥ ॥

तृतीयः पटलः

विलोक्य तस्या भुवनाद्भुतानि, मुदान्वितो बालविचेष्टितानि ।
अनाप्तवल्लोचनयुग्मतृप्ति, जगाद मेनामथ शैलराजः ॥५०

मध्यमान-ताल श्रीरागः

वादयामि मृदुमधुरमृदङ्गं, त्वमपि कलय करतालविभङ्गम् ॥१॥५१
अयि कृतसुकृतचये गौरीं पुनरपि नर्त्तय सफलय मम नयने ।ध्रुवम् ।

---

१. '०पीतपयूष०' इति पुस्तके ।
२. '०लेखायवदिवापि' इति पाठः ।
३. 'खेदच्छेदि०' इति पाठः ।
४. 'सर्वाभीष्टफलप्र०' इति पुस्तके ।

जन्मसु बहुषु तपः कति तप्तं, तस्य मया फलमिदमभिप्राप्तम् ॥२॥५२
कोटिकोटिकुलमजनि पवित्रं, कामदुघं मम सबलचरित्रम् ॥३॥५३
तोषितविप्रगणाशीर्गदितं, नूनमिदानीं तन्मम फलितम् ॥४॥५४
धरणितले न कृतं कति सुकृतं, चरणस्पर्शनसुखमनुभूतम् ॥५॥५५
श्रीजयनारायणकृतगीतं, भक्तजनं कुरुतामतिप्रीतम् ॥६॥५६

इति जनकजनन्योर्वाञ्छितं पूरयन्ती,
मदनमथनजाया मायया मोहयन्ती।
त्रिभुवनमनिशं सा दोहिनी ब्रह्मरूपा,
हिमवति कति कालान् पर्वते संनिनाय ॥५७

तस्याः समीपे किल नारदोऽथ, वाराणसीनाथनिदेशवर्ती।
अभ्याययौ प्रीतमना महर्षिगर्गेस्तदीयं चरितं महत्या ॥५८
कृताञ्जलिर्भक्तिनतोत्तमाङ्गः, स बाष्पधारापरिवाहिनेत्रः।
तुष्टाव तां हृष्टमना गरिष्ठं, स्पष्टार्थवाग्भिर्वदतां वरिष्ठः ॥५९

चौताल आशातुयारीरागः

अव्ययमेकमनन्तविभवमपि परमं ज्योतिरसि त्वम्।
स्फटिकमणेरिव गुणसंयोगात् तव जगदम्ब ! बहुत्वम् ॥१॥६०
करुणामयि मयि करुणा भवतु भवानि भवार्णवभीते !
तव चरणशरणविभवे ! ॥ध्रुवम्।

त्वं प्रकृतिः पुरुषोऽसि च काले सृजसि(से) रक्षसि संहरसि।
विश्वमशेषमनिशमभिभजतां मुक्तिपदं विदधासि ॥२॥६१
विधिहरिगिरिशमुखा विबुधास्तव जातास्तनुरुहकूपात्।
क्रमश इमे त्रिजगन्मयरूपे दीपालय इव दीपात् ॥३॥६२
सुकृतवतां सुकृतं जननी त्वं, यागवतामसि यागः।
तत्त्ववतामसि परमं तत्त्वं, रागवतामसि रागः ॥४॥६३
ध्यायति सकृदपि हृदि यस्तव पदपल्लवमविदितसीमम्।
गोष्पदमिव भवसागरमाशु स तारिणि ! संतरतीमम् ॥५॥६४
तव नाम[1]-सुधां निपीयति यः सकृदपि त्रिभुवनमातः !।
स पुनर्न च जननीजठरोद्भवदुःखचयाननुयातः ॥६॥६५

---

१. 'नामाः' इति पुस्तके पाठः।

श्रीजयनारायणकविवर्णितमेतदतीवविचित्रम् ।
शृणुत बुधा यदि वो गिरिजाया नन्दयते सुचरित्रम् ॥७॥६६

तस्याकलय्य वचनं मुनिपुङ्गवस्य,
भक्तिप्रयुक्तमथ भक्तजनानुरक्ता ।
साऽऽविर्बभूव पुरतश्च शुभप्रसङ्गै —
रानुग्रहीतुमखिलान्तरभावविज्ञा ॥६७

साष्टाङ्गपातं प्रणिपत्य पत्युरादिष्टमाचष्ट च सन्निकृष्टम् ।
प्रस्यातुमस्यै स तथेति साऽपि, स्वीकृत्य तत्तत्र तिरोबभूव ॥६८

या ब्रह्माण्डमशेषमीश्वरहृषीकेशप्रजेशादिकान्,
प्रासूय क्रमशो नियोजितवती स्वस्वाधिकारेऽनिशम् ।
सा दुर्गाऽखिल[लोक] दुर्गतिहरा स्वर्गापवर्गप्रदा,
नित्या नित्यमनित्यवैभवभवाद्युष्मन्मनः कर्षतु ॥६९

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते नारदसमागमो नाम तृतीयः पटलः ॥३॥

चतुर्थः पटलः

भर्तुर्निदेशात् कृतनिश्चयां तां, वाराणसीं गन्तुमथाद्रिजाया[1] ।
[2]वाष्पप्ररोहावलिरुद्धकण्ठा, प्रोवाच चेष्टाभवलोलनेत्रा ॥७०[3]

रूपकताल तुडीरागः

वचननिमीलनजनितं विरहं, नैव पुरा तव सुमुखि सहेऽहम् ॥१॥७१
अयि वत्से ! जीवामि कथं तव विरहे । ध्रुवम् ।
मुखशशिसृतममृतं मातेति, क्व नु मे[4] श्रवणचकोरी पिबति ॥२॥७२
तव वदनाम्बुजमधुवलदङ्गः, जीवति किं मम लोचनभृङ्गः ॥३॥७३

---

१. '०जायाः' इति पाठः ।
२. 'वास्प' इति पुस्तके ।
३. 'चिष्टा' इति पाठः ।
४. 'मम' इति पुस्तके ।

करपराधर्मामतिदीनां, परिहर[1] जननि ! श्रवणविहीनाम् ॥४॥७४
तव विरहानलविकलितपौराः, सम्प्रति मुक्तभवनपरिचाराः ॥५॥७५
कलयति हंसकुलं विजकवलं, न च शिखिकुलमपि नृत्यति विकलम् ॥६॥७६
शिशुकुलमधुना मातुरुरोजं, पिबति न मलिनितवदनसरोजम् ॥७॥७७
कोऽपि न सहजविषयमाचरति, चित्रितमिव पुरमिदमाभाति ॥८॥७८
श्रीजयनारायणकविभणितिर्बुधहृदि विहरतु मृदुपदवितति: ॥९॥७९

वरमहो विरहाग्निरहर्निशं, दहतु शैलसुते त्वदृते भृशम् ।
इदमसह्यमतीव च कोऽपि माँ, न हि जगज्जननी जननीं वदेत् ॥८०

बहुजन्मार्जितैः पुण्यपण्यैः क्रीतमिदं धनम् ।
दुर्वारिकर्मचौरेण हा हन्ताऽपहृतं क्षणात् ॥८१

शैलाङ्गनामित्यनुशोशुचानां, विवेकहीनां प्रसमीक्ष्य दीनाम् ।
विघ्नेशमाता करुणार्द्रचेताः, प्रशान्तयामास सुशान्तवादैः ॥८२

तेयोटताल काफिरागः

तनयविभवादिविषयं नियतनश्वरम्,
विद्धि जलफेनमिव भज सततमीश्वरम् ॥१३॥८३
जननि विचिन्तय तत्त्वं भावय[2] भावमनित्यम् । ध्रुवम् ।
विश्वमतिमोहमिदमेति मम मायया,
मां स्मरत्विह[3] तु हृदि शान्तिमेति किं तया ॥१४॥८४
यावदुदयति न हृदि तत्त्वमयभास्वरः,
तावदभिभवति जगदविद्यान्धकारः ॥१५॥८५
अम्ब ! मयि भक्तिकरवालखरधारया,
छिन्धि ममताविषमनिगडमतिहेलया ॥१६॥८६
आत्मनि निवर्त्तय च चित्तमतिभास्वरे,
मज्ज[4] सततं परमनित्यसुखसागरे ॥१७॥८७
शिष्टगणमानस-सुतोषमशेषेण,
भणितमिदमावहतु जयनारायणेन ॥१८॥८८

---

१. 'परिहरसि' इति पुस्तके ।
२. 'विभावय' इति पुस्तके ।
३. 'स्मरतु इह' इति पाठः पुस्तके ।
४. 'मञ्ज' इति पुस्तके पाठः ।

इत्थं मनः पर्वतराजपत्न्या, निर्जित्य मायामलमत्स्यभावम्[1]।
शान्तोपदेशेन समापदस्याश्चन्द्रोदयेनेव नभं तमिस्रम् ॥१९॥८९

स्वन्ते सन्ततमस्तु व. समुदितं बालारुणश्रीयुतं,
देव्या भव्यपदं पदं तदमलं विभ्राजमानं परम् ।
यन्मुक्ताफलजालनिर्मलतरे वक्षःस्थले शूलिनः,
शोणाङ्का समलज्जयद्विकसितं क्षीरोदनीरोदरे ॥२०॥९०

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते मेनाविलापो नाम चतुर्थः पटलः ॥४॥

पञ्चमः पटलः

अत्रान्तरे निजकुलाचरणैकविज्ञाः,
प्रेमातिरेकपुलकाञ्चितचारुगात्राः ।
तां तत्र पौरवनिता अभितः समेता
नानाविधं शुभसमाचरणं प्रचक्रुः ॥१

हेट-चौताल पूरवीरागः

शंखनिनदपरिपूरितगगना[2] मुहुरभिनर्त्तित-[3]नवशिखिनटना ॥१
काऽपि युवतिवरा शिव शिव शिव इति गानपरा । ध्रुवम् ।
विकिरति काऽपि च मङ्गललाजान्, नवलतिकेव सुकुसुमसमाजान् ॥२
काऽपि च धेनुगणानपसव्ये, न्यस्यति पूर्णकलशमपि सव्ये ॥३
काऽपि च विप्रपदाम्बुजरजसा, विकिरति मन्त्रं[4] तस्याः सहसा ॥४
तामभिषिञ्चति काऽपि च सलिलैः, तीर्थभवैरतिशीतलविमलैः ॥५
नीलनिचोल[ल]ता वासयते, घनवलयिततडितं ह्लेपयते ॥६
[5]शशधरधरसुरजननिर्माल्यं, तस्याः शिरसि दधाति च माल्यम् ॥७
श्रीजयनारायणभणितानि, दधतु त्रिभुवनतोषमिमानि ॥८

---

१. '०मच्छभावमिति' पुस्तके ।
२. 'गगणा' इति पुस्तके ।
३. '०मर्त्तित' इति पाठः ।
४. 'मन्तं' इति पुस्तके ।
५. 'शशधरधरपुजन' इति पुस्तके ।

अतः परं दुष्करसम्बुजाक्ष्या, मयैव वै पथ्यविधानमस्याः ।
इतीव चित्ते विनिधाय राज्ञी, यथेप्सितं सा विदधे ततस्तत् ॥१

मूलताल - गौरीरागः

जितनवतपने मृदुतरचरणे तलरुचिचयनिर्जितम् ।
गतमिव शरणं यावकभरणं रचयति लघुराजितम् ॥१
कुरुते हिमगिरिवनिता सुतां विविधभूषणभूषिताम् ॥ ध्रुवम् ।
सुविमलसुघने वितुलनजघने सा रसनमतिपीने ।
स्मरति सुमनसो[1] विकिरति बहुशो दृढगुणमिव बन्धने ॥२
विशदमुदारं वक्षसि हारं घटयति कनकामले ।
निन्दिततारं गङ्गासारं परमिव विबुधाचले ॥३
रक्तकरतलं मृदुभुजयुगलं ततमरकतकङ्कणम् ।
जलदवलयितं दिनकृतमुदितं रचयत इव नूतनम् ॥४
स्फुरति विशाले विलिखति भाले सुरुचिररुचिशोभने ।
सुललिततिलकं मृगमदकनकं मृगमिव मृगलाञ्छने ॥५
जितघनमाले कुन्तलजाले विकलितमृगचामरे ।
विकिरति विमलां चम्पकमालां तडितमिव घनोदरे ॥६
इदमतिरुचिरं कथयति सुचिरं कुरु पदयुगचारणे ।
करुणां तारिणि ! विपदभिवारिणि कविजयनारायणे ॥७

वत्से ! भर्तृकृतं कुलप्रददया स्यादप्रियं वा प्रियं,
श्रेयः सम्मतया सुमर्षणमविस्मर्त्तव्यमेतच्चिरम्[2] ।
भर्त्तारं वशमानयामरवरं गङ्गाधरं सादरं,
मेनेत्युक्तवती विहाय तनयां मेने हृतं जीवितम् ॥१
नित्या सर्वगता द्वितीयरहिताऽप्याकारसावर्जिता,
सावित्रीति रमेति कल्पिततनू[3] राधेति[4] वाणीति च ।

---

१. 'पुमनसो' इति पाठः ।
२. '०मविस्मर्त्तव्य०' इति पुस्तके पाठः ।
३. 'कल्पिततनु' इति पुस्तके ।
४. 'राद्येति' पाठः संभाव्यः ।

माता चेति गणेशितुः श्रुतिचयैर्या स्तूयतेऽनेकधा,
तां सृष्टिस्थितिसंहृतिप्रणयिनीं दुर्गां भजध्वं जनाः॥२

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते काशीप्रस्थानं नाम पञ्चमः पटलः ॥५॥

षष्ठः पटलः

ततो मृगेन्द्रं विजयाजयाभ्यामारुह्य काशीनगरीमुदारम् ।
उपागमत् सान्ततवर्त्मखेदा गङ्गाम्बुजारण्यजमन्दवातैः॥१

तोयाटताल वसन्तरागः

भ्रमरकदम्बविचुम्बितमल्लीवल्लीरचितनिकुञ्जम् ।
रमणीमण्डलमानविखण्डनपण्डितपरभृतगुञ्जम्[1] ॥१
विलसति विरहितजनकृततापं मधुसमये हरनगरवनम् ।
परमुन्मदमिथुनकपालम् । ध्रुवम् ।
मनसिजनृपतिच्छत्रसदृशनवविकसितसितशतपत्रम् ।
सुमधुरनिनदपतगवरमागधविपठितमदनचरित्रम् ॥२
मारुतचालितचामररुचिरशिरीषकुसुमसुविकाशम् ।
चित्रितविमलध्वजरवसुन्दरकेशरनिकरविलासम् ॥३
[2]शरदुपशीलनशीतपवनदरकम्पितविकसितवकुलम्[3] ।
युवजनभेदनलोहितप्रक्षितशरनिर्भकिंशुकमुकुलम् ॥४
पुष्पितसुललितनवमल्लीपरिरम्भिततरुणतमालम् ।
स्तवकपयोधरनम्रमनोहरनवकाशोकसुमालम् ॥५
[4]कुड्मलपुलकितचूतविलोकनमाधविकाकृतहासम् ।
पथिकहृदयतटपाटनपटुतरकेतकगणकर्णाशम् ॥६
अभिहितमेतज्जयनारायणकविना परमरहस्यम् ।
कुरुतां मुदितं परमविरामं बुधगणहृदयमवश्यम् ॥७

---

१. '०परिभृतगुञ्जम्' इति पुस्तके ।
२ 'सरदु०' इति पुस्तके ।
३. '०वकूलं' इति पाठः ।
४. 'कुटचल०' इति पुस्तके ।

[1]तास्ता दृष्ट्वा दुरा[पा]दमरपुरतो दुर्लभतरे,
पुरे वाराणस्यामुपवनगतं मन्मथरिपुम् ।
उवाचेदं कापि प्रियतमसखी शैलतनयां,
स्मितज्योत्स्नाजालस्नपितविलसद्दन्तवसना[2] ॥१

खवेरावादो ईमनरागः

इह सततमन्तसमये निखिलदेहिनां श्रवणपुटकेषु भवतारम् ।
नाम तव तत्त्वमयमादधतमुत्तमं विकसदभिनवपुलकभारम् ॥१
शिवे रम्यरूपे रूपय पुरान्तकमुदारम्

तव विरहसम्भरं सखि नयनकैतवं[3]दधतमिव दहनमनिवारम् । ध्रुवम् ।
तव वदनरुचिररुचिनिचयपरिचोरकं चन्द्रमपि तापसुनिदानम् ।
धरणिधरकुलतिलकपुत्रि विनिविभ्रत[4] स्वीयशिरसि च निरवसानम् ॥२
श्रवणतटसीमसञ्चारिचललोचने लोचयितुमिव नयनसाम्यम् ।
तव विमलपाणिकमले च मृगशावकं सम्प्रति वहन्तमतिकाम्यम् ॥३
सजलघनकिरणचयनिन्दिनववेपिकाभ्रमत इव ते सदनुरागम् ।
स्वहृदि भृशविस्तृते मणिनिकरकोचिते दधानमयि वासुकिनागम् ॥४
त्वामृते विकलमिदमामनति काशीनगरममरसुदुरापम् ।
त्वमिममधुनाऽर्हसि स्वजनमनुरागिणं कर्तुमनुकररितापम्[5] ॥५
इदमचलराजतनय लिजनभावितं भक्तजनमानसविहारम्[6] ।
शृणुत जयपूर्वनारायणविवर्णितं सन्त इह दोषपरिहारम् ॥६

सम्फुल्लचम्पकदलामलगौरगात्री,
कुन्दालिनिन्दिरुचिना गिरिशेन गौरी ।
रेजे ततः समुपगत्य तदासनार्द्धं,
वर्षात्यये जलधरेण तडिल्लतेव ॥१

---

१. 'ताता' इति पाठः पुस्तके ।
२. पुस्तके तु 'विलसंदत्रवसना' इति पाठः ।
३. पुस्तके तु-'नयनाकतवां' इति पाठः ।
४. 'विविविभ्रतं' इति पाठः ।
५. '०मनुषर्पा तापम्' इति पुस्तके । अनुकः=कामुक इत्यर्थः ।
६. '०मावसविहारम्' इति पाठः ।

अन्योन्यप्रतिबिम्बितं सुविमलानन्यासनासीनयो[1]—
यंत्सम्मार्जितरत्ननिर्मितनवादर्शाभिरामच्छवि ।
पित्रोर्विश्वजनस्य रूपमनघं गाढानुरागात् स्फुटा[2]—
मन्योन्यान्तरगामितामिव सदा कुर्वञ्जगत् पातु तत् ॥२

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते वसन्तवर्णनं नाम षष्ठः पटलः ॥६॥

सप्तमः पटलः

अथ सान्द्रतरानन्दसमुज्झिततनूरुहः[3] ।
जगाद पार्वतीं शम्भुः प्रेम्णा मधुरया गिरा ॥१

मूलतान कानोडारागः

सन्निधिमेत्य तवाऽहं गुणमयि सकलं कर्म चरामि ।
प्राणमयि त्वद्विरहित इव मृतवद्गहनमपि न भजामि ॥१
विमले मम देहे जीवनमधुना जातम् । ध्रुवम् ।
श्रुतिरसि मतिर्दृष्टिरसि त्वं प्रेयसि मम रसनाऽसि ।
पुष्टिस्तुष्टिरथापि भूषा स्मृतिरसि गन्धवहाऽसि ॥२
विकलितसुरकुलविषमगरलचयपाने या तु भवानि ।
मम जगतीजनमोहननिपुणा शक्तिः सा त्वममानि ॥३
तव विरहजनितमतुलं सुन्दरि दुःखं यदनुभवामि ।
सुखमपि दर्शनजं तत् किञ्चन पञ्चमुखः कथयामि ॥४
काशी धन्या कृतकतिपुण्या त्रिदशनगरसुदुरापम् ।
यदियमुपेति तवातुलपदकमलाङ्कितमपहतपापम् ॥५
श्रीजयनारायणकविकथितं काव्यमिदं तु न कस्य ।
परमां सम्पल्लहरीं[4] चेतसि जनयति जगति जनस्य ॥६

---

१. '०सीवयो' इति पुस्तके पाठः ।
२. 'स्फुटात्' इति पाठः ।
३. 'समुज्झिपतनुरुहः' इति पुस्तके ।
४. 'सपदलहरीं' इति पाठः ।

इति ब्रुवन्तं निजवल्लभं ततः, समुल्लसत्प्रेमरसार्द्रचेतसम् ।
श्रुतिप्रमोदप्रतिपत्तिपेशला, जगाद गौरी मधुराक्षरा गिरः ॥१

तेयोटतालः खामाजरागः

विरहकृशां[1] तव मुखशशिदर्शनतोषविफुल्लकलेवराम् ।
जलधरजलधारापल्लवितां लतामिव भगविकलतराम् ॥१
जानीहि मामिदानीमधिगतसकलमनोरथाम् । ध्रुवम् ।
त्वामधिगम्य परमसुखसागरमग्नां चिरमभियाचितम् ।
दुर्गतिनीमिव निधिचयवर्षणमम्बरतः सहसागतम् ॥२
जीवननाथ ! विना भवताऽसून्[2] क्षणमपि धर्त्तुमशक्ताम्[3] ।
चन्दनतिलकामितमलयाख्यकगिरिणानन्यसुरक्ताम् ॥३
ध्यानवशादधिगम्य भवन्तं कथमपि रक्षितजीवनाम् ।
प्रागिव वर्षासमयाज्जलदं पिपासितचातकाङ्गनाम् ॥४
क्षीणतरां त्वामधुनाऽवाप्य प्रतिसमयागतशान्तिम् ।
शशधरलेखामिव तिथिभेदं दधतीमभिनवकान्तिम् ॥५
श्रीजयनारायणकविकृतमिति गीतं श्रुतिसुखकारणम् ।
शैलसुताचरणचारणानां[3] निदिशतु भवतो वारणम् ॥६

देवानां प्रणिपातनम्रशिरसां निर्भीतिसम्भाषणं,
भक्तानां च परेतराजविजयेऽथाज्ञापनं वैरिणाम् ।
स्तम्भक्षोभणमोहनप्रमथने[4] संसिद्धमन्त्रोपमं,
पायाद्वो युधि नृत्तनृत्यगिरिजामञ्जीरसंशिञ्जितम् ॥१

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते शिवसम्भाषणं नाम सप्तमः पटलः ॥७॥

---

१. 'विरहकृत्ं ग' इति पुस्तके पाठः ।
२. 'भवतासुन' इति पाठः ।
३. 'धर्त्तुमविशक्ताम्' इति पुस्तके ।
४. '०चारणाजां' इति पुस्तके ।
५. '०प्रथमने' इति पाठः ।

अष्टमः पटलः

पत्युः कदाचिदथ सा रहसि स्थितस्य,
सम्प्रार्थितस्य गुरुहर्षसमृद्धचेताः ।
आज्ञामवाप्य किल योगिगणावकीर्ण—
मेकाम्रनामविपिनं तरसा प्रतस्थे ॥१

ततो धृताऽऽभीरसुतासुवेशा(षा), निजप्रभाजालविकाशिताशा ।
अलञ्चकारेश्वरपालितं तद्, वनं प्रसूनैः परिपूरितं सा ॥२

तेयोटताल धानश्रीरागः

मृदुलसमीरणशीतलसुललितनीपतले कृतचारा ।
शिवगुणकीर्त्तनपरमामोदनविगलितलोचनधारा ॥१
विहरति विपिनेऽखिलभुवनेशा धृतवल्लवतनयावेशा । ध्रुवम् ।
दोहनपात्रकवेत्रकवेणुविशोभितकरशतपत्रा ।
नीलनवीननिचोलवरा हरिचन्दनचर्चितगात्रा ॥२
अभिनवकुसुमविनिर्मितमालावलयितकवरीभारा ।
निन्दितमुक्ताफलगणलम्बितमल्लीकुड्मलहारा ॥३
अधरितनूतनपदारागरुचिविलसदशोकवतंसा ।
तत्प्रतिविम्वविचिह्नितचारुद्युतिभरसंवहदंशा ॥४
परिणतविम्वविडम्वितदशनच्छदगतसुविशदहास्या ।
होरकखचितसुविद्रुमरचितवराटककनकमलास्या ॥५
सार्द्रालक्तकसुचरणविहरणसुरुचिरचिह्नचयेन ।
निचितं स्थलमिव तज्जनयन्ती लोहिततामरसेन ॥६
अभिनवविसवलयावलिभूषितवाहुयुगामृतभाषा ।
खगपतिचञ्चुकीर्त्तिनिवर्त्तनचत्वरमनोहरनासा ॥७
श्रीजयनारायणकविभावितमिति नवरूपमुमायाः ।
ध्यायत भक्तजनाः सततं हृदि पापचयापहरायाः ॥८

तत्रोदञ्चन्मृदुमधुरवैर्वारिताशेषविश्व-
स्वान्तस्थैर्य्यं नवनवलसद्रागसार्थं ततः सा ।

पीयूषोद्भावयत उदधेर्मानविम्लानबीजं,
वक्त्राम्भोजे[1] प्रसृतपवनैः पूरयामास वेणुम् ॥१
माधुर्यैरवधीरितामृतरसं तं वेणुनादं मुहुः,
श्रुत्वा कर्णयुगं निहन्ति पशवो [2]व्यस्तास्ततो मानवाः ।
धातारं श्रवणद्वयं विदधतं निन्दन्ति वाञ्छन्ति च,
व्यालो नेत्रसहस्रतां च चकमे चक्षुःश्रवस्त्वं[3] वृषा[4] ॥२
[5]जगन्मातुर्लीलारसभरसमालोलमनसो,
मनोवृत्तिं ज्ञात्वा सुरभिरथ पातालपुरतः ।
पदं द्रष्टुं ध्यातुं विधिहरिहराद्यैः सुरगणै—
रुपागच्छत्तत्र स्वगणनिचयैः सम्परिवृता ॥३
सा[6] गोपतनयारूपधरां विश्वसवस्थलीम् ।
नत्वा जगाद तामेतत् प्रेम्णोत्फुल्लकलेवरा ॥४

सूरफाकताल चिडिरागः

निन्दितनूतनमिहिरविकाशे, भक्तहृदयतटतिमिरविनाशे ॥१
शैलसुते मम नतिरास्तां तव चरणे । ध्रुवम् ।
किल्विषदहनहुताशनजाते[7] तापविनाशामृतसम्पाते ॥२
नतसुरपतिमुकुटासितमणिना, तुलयति कमलं चुम्बितमलिना ॥३
वाञ्छाधिकफलविच(त)रणचतुरे, अमरमहीरुहमानं छिदुरे ॥४
घोरभवार्णवतारणतरणौ, त्रिभुवननिःश्रैयसैकमरणौ[8] ॥५
विदधति शङ्करवक्षसि परमां, पद्मरागमणिवरयुगसुषमाम् ॥६
लोहितभासिनखरवरनिचिते, शोणकमल इव हिमकरललिते ॥७
जयनारायणभणितं गीतं, सुखयतु जगति श्रवणनिपीतम् ॥८

---

१. 'वत्ताम्भोजे' इति पुस्तके पाठः ।
२. 'व्यस्तां' इति पाठः । व्यस्ताः = आकुला इत्यर्थः ।
३. पुस्तके तु 'चक्षुःश्रवन्त्व' इति पाठः ।
४. वृषा = इन्द्रः ।
५. 'जिगन्मातु०' इति पुस्तके पाठः ।
६. 'स' इति पुस्तके ।
७. '॰हुतासनजाते' इति पाठः ।
८. '० निःश्रयमैक' इति पुस्तके । 'निःश्रयसैकमरणौ' इति सम्भाव्यः ।

घोरान्तःकरणाप्रधर्षणतमःस्तोमापसारामल —
वर्त्मा लोकमहौषधं त्रिजगतां पङ्कौघसंशोषणः।
श्रीदुर्गाचरणारुणः स्फुटजवापुष्पाभिरामद्युति[1] —
र्युष्माकं हृदयाम्वरे समुदितो भूयाद् विपद्वारणः॥१

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते एकाम्रवनगमनं नाम अष्टमः पटलः ॥८॥

नवमः पटलः

तत्र सा कति दिनानि लीलया, धेनुपालनपरायणा सती।
अध्युवास जगदीश्वरी वने, सिद्धचारणगणैः समाकुले ॥१

मध्यमानताल सारङ्गरागः

क्षुधितान्नवतृणकवलैरवति पिपासून्[2] शीतजलेन।
आमन्त्रयति विपथमनुयातान् सुमधुरवेणुरवेण ॥१
सा विपिने शिवजाया धेनुगणान् परिचारयति।
त्रिभुवनजनमोहनमाया ।ध्रुवम्।
वत्सतरप्रतिविम्वविचिह्नितममलं मृदुलशरीरम्।
निहिता[3] विनिवारयति करेण रणद्वलयेन गभीरम् ॥१
सम्मुखगतनिजवत्सतरानपहाय विवृत्य च तुष्ट्या।
लोकयतो मुहुरास्यविधुं सुखयन्ती सकरुणदृष्ट्या ॥३
मञ्जुलवञ्जुलकिसलयवुद्ध्या कवलयतः पदयुगलम्।
लालयते निजकरकमलेन च तेषां वपुरतिमृदुलम् ॥४
दोहं दोहं विमलपयांसि च तैस्त्रिपुरान्तकलिङ्गम्।
अभिषिञ्चति परिफुल्लहृदयनलिना भुवनेश्वरसंज्ञम् ॥५
श्रीजयनारायणभणितैषा गीतिर्भक्तजनानाम्।
हृदयतटं प्रतिवसतु सदा शिवजायागुणमुदितानाम् ॥६

---

१. '०पुष्पाभिराम०' इति पुस्तके।
२. 'पिपासुन' इति पुस्तके पाठः।
३. 'निहितो' इति पाठः।

निःसाराच्चपलेन्द्रजालसदृशाद् भूयिष्ठकष्टाकरात्,
संसाराद् विनिवृत्य नृत्यपरमप्रीतिप्रदे सम्पदाम् ।
सर्वासां कुलमन्दिरे त्रिजगतां सारे सुरैर्वाञ्छिते,
भूयाद् वः सुरसुन्दरीपदयुगाम्भोजे मतिर्निर्मला ॥१

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते गोष्ठवर्णनं[1] नाम नवमः पटलः ॥९॥

दशमः पटलः

स्नेहेन देहार्द्धहरं हरप्रिया, हरं समुद्दिश्य विलोलमानसा ।
कामप्यसौ दुःखसुखांशभागिनमथाब्रवीदिन्दुमुखीं सखीमिति ॥१

खायारावादीताल हामीररागः

सकलकलापरिपूर्णसुधाकरदर्पदलनमुखकान्तिम् ।
विकचकमलरुचिलोचनवलनविधूतयुवतिजनशान्तिम् ॥१
त्रिभुवनहृदयानन्दनिधानं स्मरति सदा मम मन ईशानम् । ध्रुवम् ।
अभिनवभवदमृतनिकरमधुरिमगरिमविलोपनभाषम् ।
परिहृततरुणीमानतिमिर[तति]तरुणाधरगतहासम् ॥२
सुविशदपृष्ठतटावविलम्बिपिशङ्गजटापरिवारम् ।
स्फटिकशिलोच्चयतटमिव[2] कूटाद् विगलितधातुजधारम् ॥३
अवधीरितकरिवरकरजानुविलम्बिललितभुजदण्डम् ।
दशनवसनपरिलसदतिशोणिमनिन्दितविद्रुमखण्डम् ॥४
अमलस्थलकमलद्युतिचयविनिगञ्जनचरणविकाशम् ।
सुरतटिनीसलिलोर्म्मिपटलनिभसुवलीत्रितयविलासम् ॥५
ददतं विततललाटतटोपरि शिशिरकरं[3] समुदारम् ।
विजयकलितमिव रतिपतिसायकमर्द्धशशाङ्काकारम् ॥६

---

१. 'गोष्व०' इति पुस्तके ।
२. '०वटमिव' इति पुस्तके पाठः ।
३. 'शिशिरकरां' इति पाठः ।

भणितमिदं जयनारायणकविना परमेश्वररूपम् ।
गिरितनयोदितमादिशतु शुभं भक्तिमतामनुरूपम् ॥७

वाणानपाङ्गलसितानि शरासनं च,
भ्रू युग्मकं श्रवणपालिमथास्य मौर्वीम् ।
कामं विजित्य जयसाधनरत्नजातं,
तस्यैव मन्मथरिपुः स्वयमाजहार:[1] ॥१

प्रौढाङ्गनामृदुलकाङ्गमपाङ्गवह्नि[2]—
र्भस्मीकरोति[3] सखि कामरिपोर्न चित्रम्
भस्मीकृतं कुलवधूवधकण्ड्वनङ्ग —
मङ्गीकरोति पुनरेव ममेति चित्रम् ॥२

त्वया हि काशीनगरीनिवासिनं, समानय क्षिप्रमिहेन्दुशेखरम् ।
इति प्रयुक्ता गिरिजातया तया, सखी समेत्य त्रिपुरारिमब्रवीत् ॥३

मध्यमानताल इमनरागः

शिव शिव इति तव नाम सकामं जपति[4] यथेच्छफलदमविरामम् ॥१
शङ्करी शङ्कर ! तव विरहे । ध्रुवम् ।
दिक्षु विदिक्षु विलक्षणरूपं, [वि]लक्षति त्वां जीवनभूपम् ॥२
स्रस्तं स्रस्तं विषकृतविलयं, धवति सखी लंघितनिजनिलयम् ॥३
क्वानुभवामि भवं भवसारं, इति पृच्छति परिजनमनुवारम् ॥४
विलिखति धरणीं नतमुखकमला, श्वसितमननमिव विसृजति विकला ॥५
विरुवति परभृतयूथे विकलं, स्वमपि दधाति श्रुतिपुटयुगलम् ॥६
निन्दति मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जं, कलयति मलयजमिव विषपुञ्जम् ॥७
श्रीजयनारायणकविभणितं, जगतामपहरतु सकलदुरितम् ॥८

पीयूषद्युतिरप्यहो विसृजति क्षोभोच्चयं रश्मिभिः,
प्राणानर्त्तुमिव प्रसर्पति जगत्प्राणोऽप्यसौ सम्प्रति ।
तस्या वाडवहेतिकां वितनुते दुर्धर्षणीयां हिमं,
नास्त्यन्यो भवता विना स्मररिपो प्राणप्रदानप्रभुः ॥१

१. 'स्वयमानहार' इति पुस्तके । स्वयमाजहार' इति पाठः सम्भाव्यः
२. '०मृदुलकाङ्गन' इति पुस्तके ।
३. 'भस्मीकरोत्व' इति पाठः पुस्तके ।
४. पुस्तके 'जयति' इति पाठः ।

ज्ञानानन्दनरूपिका[1] शिवमनःसन्तोषिका शोषिका,
पापानामथ पोषिका त्रिजगतामुत्पादिका हारिका।
भक्ते मुक्तिविधायिका रिपुकुलप्रोन्माथिका दीपिका,
या मोहप्रबलान्धकारहरणे सा पातु वश्चण्डिका ॥२

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते विरहवर्णनं नाम दशमः पटलः ॥१०॥

एकादशः पटलः

[2]लीलारसोल्लासितमानसायाः, प्राणप्रियाया अथ विश्वनाथः।
[3]सखीजनस्याहृतमर्थविज्ञः, श्रुत्वा द्रुतं तद्विपिनं जगाम ॥१॥
निवसामि निकुञ्जेऽस्मिन् समानय मम प्रियाम्।
इत्युक्ता[4] सा शिवेनाथ गौरीमेत्याब्रवीदिदम् ॥२॥

मध्यमानताल आडानाराग:

वाति मलयजपवने प्रेमभरालसो, ध्यायति तव गमनं विकलितमानसः ॥१
सीदति विरही कुञ्जे सखि ! शशिमौलिः। ध्रुवम्।
उदयति शिशिरकिरणे तापभरमेति, विकसति कुसुमचये स्मरशरतो बिभेति ॥२
स्वनति कोकिलकुले हृदि शल्यमुपेति, सुविनदहंसकुलं यमचारमवैति ॥३
स्वपिति धरणीतले निन्दति कुसुमदाम, हृदये विरहविधुरे प्रलपति तव नाम ॥४
दिशतु करुणामुमा निजपदचरणे, कथयति गीतमिदं जयनारायणे ॥५

नान्यद्[5] ध्यायति संशृणोति वदति प्रत्येति पश्यत्यपि,
त्वद्विच्छेदनखेदकुण्ठकरणग्रामः सदा शङ्करः।
मन्ये कुञ्जगृहोदरे सखि ! जपंस्त्वन्नामतत्त्वं मनुं,
सर्वाभीप्सितदं तपः प्रचरति त्वत्प्राप्तिकामो[6]ऽनिशम् ॥१

---

१. पुस्तके 'ज्ञानानन्दरूपिका' इति।
२. पुस्तके तु 'नीला०' इति पाठः।
३. 'सखीजनस्य०' इति पाठः पुस्तके।
४. 'इत्युक्त्वा' इति पुस्तके।
५. 'न्यान्यत्' इति पाठः पुस्तके।
६. 'त्वत्प्रासि०' इति पुस्तके।

तेयोटताल विहगडाराग:

मृदुलसमीरे कुञ्जकुटीरे युवतिविमोहनवेशम् ।
अधिगतमिन्दुविमलमुखि ! सत्वरमनुचर तं परमेशम् ॥१
विकसितकुसुमे राजति विपिने चिन्तितश्रीभुवनेशः । ध्रुवम्
त्वदुपगमनपरमाकुलहृदयो दिशि दिशि विकिरति नेत्रम् ।
दिग्वनिताजनललितवतंसनमिव विकसितशतपत्रम् ॥२
कुञ्जं प्रविशति मुहुरपि विचरति बहिरतिचञ्चलनयनः ।
ध्वनति समदने मधुकरमिथुने शङ्कितनूपुररवणः ॥३
चिरविरहैरतितापितमानसमर्हसि रक्षितुमेतम् ।
सखि ! निजवल्लभमशरणमनुगतमुपसर कुञ्जनिकेतम् ॥४
श्रीजयनारायण इति गीतं भणति सतामभिरामम् ।
हिमगिरितनया दुःखितसदया शमयतु भवमविरामम् ॥५

ततः प्रियाप्रेमरसा[1]-नुरागिणी, चिरादवालोकनमुग्धलोचना ।
प्रफुल्लपुष्पं भ्रमरालिगुञ्जितं, जगाम कुञ्जं गजमञ्जुगामिनी ॥१

तोयाटताल जयजयन्तीराग:

सिव जय शिव जय भाषणशीला[2], गमनतिरस्कृतकुञ्जरलीला[3] ॥१
प्रविशति भुवनत्रयजननी सा, शिवयुतकुञ्जं प्रेमवशा । ध्रुवम्
निजकरविधृतसखीकरकमला, किरणचयैरवधीरितचपला ॥२
मुखशशधरनलिनामृतहासा, दलितहराक्षिचकोरपिपासा ॥३
मुखमारुतसुरभितसकलाशा, वारितमधुकरकमलप्रिया सा ॥४
जयनारायण इदमभिभणति, तारा करुणां कुरुतां नमति ॥५

या बुद्धिः प्रतिभा दया हृतभया माया च मेधा सुधा,
तुष्टिः पुष्टिरपि क्षमा च विकृतिः शान्तिश्च कान्तिस्तृषा ।
भुक्तिर्मुक्तिरथोक्तिराकृतिरपि श्रद्धा च विद्या त्रपा,
निद्रा सर्वशरीरिणामवतु सा विश्वं सदा शङ्करी ॥१

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते दूतीसंवादो नाम एकादशः पटलः ॥११॥

---

१. 'प्रेमरमा०' इति पुस्तके ।
२. '०शीलां' इति पाठः ।
३. '०लीलां' इति पाठः पुस्तके ।

द्वादशः पटलः

अत्रान्तरे तत्र पवित्रवेशा, शिवेन सार्द्धं गिरिराजपुत्री ।
विश्वत्रयामोदनमादधानां, प्रकाशयामास च रासलीलाम् ॥१

तेयाटताल केदाररागः

विलुलितवेणी शोभितरत्ना[1] यया जितसुशिखिशिखण्डः ।
तप्तकनकरुचिरोचितया रुचिनिन्दितहीरकखण्डः ॥१
विराजति रासमण्डले शिवया शिव एकाम्रवने । ध्रुवम् ।
अलकललितमुखमण्डलया मणिकुण्डलमण्डितगण्डः ।
कङ्कणराजितभुजलतया मणिचयराजितभुजदण्डः ॥२
चञ्चलचारुदृगञ्चलया विकचेन्दीवरनेत्रः ।
सुविशदहारविभूषितया वनमालावलयितगात्रः ॥३
नीलनवीनाम्बरधरया नवपीतनिचोलवसानः ।
करतालविलोलकराम्बुजया स्वरपूरितसुललितगानः ॥४
त्रिभुवनपित्रो रूपमिदं सुरनिकरैश्चिरमभिलषितम् ।
श्रीजयनारायणकविना परिचिन्तय हृदये भणितम् ॥५

अष्टाभिर्मिथुनैः सुचारुचरितं तत्तत्स्वदेहोद्भवै[2]—
स्तत्तद्रूपमनोहरैरनुपमं श्रीरासमण्डलम् ।
तत्तद्वेश(ष)धरौ त्रिलोकपितरौ लीलोल्लसन्मानसौ,
श्रीदुर्गागिरिशौ तदन्तरगतौ संशोभयाञ्चक्रतुः ॥ १
ततो बहुविधे तत्र रासलीलामहोत्सवे ।
पार्वत्या परमप्रीत्या जगदे जगतीश्वरः ॥२

मध्यमानताल रागपरजः

जगदनुरञ्जनमनुपममलिकं भूषय मृगमदतिलकेन ।
शारदमतिरुचिरं परिमिलितं त्वं[3] शशधरमिव शशकेन ॥१
शशिशेखर ! कुरु कृपया मामभिनिचितां भूषया[4] । ध्रुवम्

---

१. 'शोभितराणि' इति पुस्तके ।
२. पुस्तके '०स्वदोहोद्भवे' इति पाठः ।
३. पुस्तके 'त्वं' शब्दो नास्ति किन्त्वेदमावे मात्राद्वयोनता स्यात्पदे ।
४. पुस्तके तु 'भूषयाम्' इति पाठः ।

विरचय गण्डयुगं मम परिहर[1] सुललितमृगमदपत्रकम् ।
उपरि विलसितमधुव्रतनिकरं विकसितमिव शतपत्रकम् ॥२
जनय चिकुरनिचयं कमलेक्षणनिचितं कुरुवकमालया ।
स्फुरदतिनीलकिरणमिव नीरदमभिनवस्थिरचञ्चलया ॥३
अनुरञ्जय मम जीवननाथ ! विलोचनमञ्जनलेखया ।
कमलोदरपरिखेलितखञ्जनमपलञ्जय हेलया ॥४
कटितटमीश ! विधेहि मनोहररसनापरिवलयितम् ।
उरसि[2] समर्पय निर्म्मलहारं कुरु करमपि कटकाचितम् ॥५
वर्णितमिति जयनारायणकविना विदधातु भुवनानाम् ।
कलुषविषमविषनाशनमनिशं कलिविषधरकवलितानाम् ॥६

ततो [3]भूधरराजस्य सुतया[4] प्रार्थितो यथा ।
प्रोल्लसत्परमप्रीतिः शङ्करोऽपि तथाऽकरोत् ॥१॥
विद्याधरीकिन्नरसुन्दरीणां, गणो गुणग्रामवदग्रगण्यः ।
शुश्रूषयाऽतोषयदाशु तत्र, सुखासनस्थावथ दम्पती[तौ][5] ॥२

तेयोटताल खामाजरागः

काऽपि च तावनुचालयते मृदुचामरमतिशयगौरम् ।
आतपवारणमुपरि दधाति च काचन शशिकरचौरम् ॥१
गायति सुललितगानं काचन पूरितपञ्चममधुरिम-
खण्डित[6] पिककुलगानम् । ध्रुवम् ।
चन्दनकुङ्कुमपङ्कचयैरनुलिम्पति काऽपि तदङ्गम् ।
उरसि दधाति तयोरथ काऽपि कुसुमगुणमलिकृतसङ्गम् ॥२
वादयते बहुविधमपि वाद्यं काचन कर्णविनोदम् ।
नृत्यति कापि च शिल्पविशेषविवर्द्धितमानसमोदम् ॥३

---

१. 'परहर' इति पुस्तके पाठः ।
२. 'उसि' इति पुस्तके ।
३. पुस्तके 'भुवर०' इति पाठः ।
४. 'सृत्या' इति पुस्तके ।
५. पुस्तके तु केवलं 'दम्पतौ' इत्येव पाठः ।
६. 'खण्डति' इति पुस्तके ।

भाषितमिति जयनारायणकविना कलयत शुभगानम् ।
भक्तजनाः सततं कविनरपतिमानसतोषनिदानम् ॥४

अत्रान्तरे तद्विपिनप्रवासिनस्तपोधना लोचनवारिवर्षिणः ।
स्वभक्तिभावेन तनूरुहाञ्चिता, बभाषिरे[1] तौ जगदीश्वराविति ॥१

तेयोटताल मालकोषरागः

त्रिभुवनदैन्यविनाशे सततं सकरुणचित्तौ,
मोहमहार्णवपतितान् दीनान् शरणविहीनान् ।
पापवारणवारणे [2]घोराङ्कुशपदकमलौ,
पापिजनाग्रविग्रान् विपथगकरणाधीनान् ॥१
तारयतं भवसिन्धौ वारयतं कलिकलुषात् ।
कुरुतं पितरौ कृपया विषयरसे विरतान्नः । ध्रुवम् ।
नानापथविकलानां जगतीनां च भवन्तौ,
सदयनमुपदेष्टारौ श्रुतमिदमागममुक्तम् ।
तत् किं नो दिशतोऽस्मान् प्रति कापथमनुयातान् ।
कल्मषकण्टकदलितान् मृषयत इति तदयुक्तम् ॥२
काचन गतिरिह नास्ते मायानिगडविमुक्त्यै,
युवयोः पदशरणमृते[3] निभृते निगमोदितमिति तत्त्वम् ।
अस्मान् यदि गतिहीनान् नो कृपयथ इह न तदा,
कैरपि घोषयितव्यं भवतोरगतिगतित्वम् ॥३
कृतगुरुपदयुगनतिना जयनारायणकविना,
कविकुलमुदे [सु]भणितं गीतं कुरुतां सुमतिम् ।
अचलमहीपतितनया चरणसरोजं भजतां,
शमयतु भवभयनिचयं सततं हरतु च कुमतिम् ॥४

स्तुतौ तौ वनचारिभिस्तैर्मनोऽनुकूलं वरमेव दत्त्वा ।
एभ्यो महाविस्मयसागतेभ्यस्तिरोदधाते शुभदौ जगत्याः ॥१

---

१. 'बभासिरे' इति पुस्तके पाठः ।
२. 'घोराङ्कश०' इति तु पुस्तके ।
३. 'पदशरणामृते' इति पुस्तके

आसीद् ब्रह्मकुलोद्भूतः शिरो नाम महामतिः ।
तस्माज्जात उधो धीरस्ततः कोच इति स्मृतः ॥१
तत आभः समाजज्ञे सञ्जातश्च ततो पशः(यशः) ।
उदयश्च ततो जातस्ततो वाणेश्वरोऽभवत् ॥२०
तत्पुत्रो विश्वनाथोऽस्य कंसारिस्तत्सुतो महान् ।
कंसारेस्तनयः श्रीमान् श्रीधरः परिकीर्त्तितः ॥३
यदुनाथस्ततो यज्ञे पाठकख्यातिमोयिवान् ।
गोपीकान्तस्तस्य पुत्रो रामकृष्णश्च तत्सुतः ॥४
राजेन्द्रस्तनयस्तस्य विष्णुदेवस्ततोऽभवत् ।
दुलालश्चापि कन्दर्पो विष्णुदेवसुतावुभौ ॥५
कन्दर्पात् कृष्णचन्द्रोऽभूद्, गुणवान् विजितेन्द्रियः ।
अभवत् कृष्णचन्द्रस्य जयनारायणः स्मृतः ॥६
अजायत सुतस्तस्य कालशङ्करसंज्ञकः ।
तस्य षट् तनयाः ख्याताः काशीकान्तोऽग्रजो महान् ॥७
सत्यप्रसादस्तदनु तृतीयः सत्यकिङ्करः ।
चतुर्थः सृ(स)त्यचरणो घोषालः परिकीर्त्तितः ॥८
पञ्चमः सत्यशरणः षष्ठः सत्यप्रसन्नकः ।
इति षण्णां कुमाराणां सत्यभक्तस्तु सप्तमः ॥९

सप्रज्ञानिषयानुरूपरचितं क्षेमङ्करं यन्मया,
सद्भक्ताय जयादिना द्विजनुषा[1]नारायणेनाचिरात् ।
क्रूराकारणदुर्विवादघटनात् पर्यस्यतां शङ्करी—
सङ्गीतं तदिदं सतां वितनुतां संशृण्वतां श्रीततिम्[2] ॥१०

इति श्रीशङ्करीसङ्गीते रासवर्णनं नाम द्वादशः पटलः ॥१२॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

संवत् १९१७ रा मार्गशीर्षमासे तिथौ तृतीयायां शनिवासरे । जोवपुरमध्ये ।
श्रीः । श्रीरस्तु । शुभम्भवतु । श्री । श्री ।

---

१. '०द्विजनुया' इति पुस्तके पाठः ।
२. 'श्रीततम्' इति पाठः पुस्तके ।

सङ्घपति रूपजी-वंश-प्रशस्ति

[म० विनयसागर, साहित्यमहोपाध्याय, साहित्यचार्य, जैनदर्शनशास्त्री,
साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद]

प्रति-परिचय

यह प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित-ग्रन्थ-सङ्ग्रहालय में प्राप्त है। इस प्रति का परिचय इस प्रकार है:—

ग्रन्थाङ्क—१६२५०
नाम—संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिः
कर्त्ता—श्री श्रीवल्लभोपाध्याय
आधार—कागज
लिपि—देवनागरी
साइज—२६×११ सी. एम.
पत्र—८
पंक्ति—१६
अक्षर—४३
भाषा—संस्कृत
समय—वि. सं. १६७५ से १६६० का मध्यकाल
विशेष—काव्य अपूर्ण है। कर्त्ता श्रीवल्लभ द्वारा स्वयं-लिखित प्रति होने से शुद्धतम, सटिप्पण, टीका-सहित और कतिपय पाठान्तरों से अलंकृत है। अभी तक इसकी दूसरी और पूर्ण प्रति कहीं भी प्राप्त नहीं हुई है।

कर्त्ता

इस प्रशस्ति-काव्य के प्रणेता श्री श्रीवल्लभोपाध्याय (श्रीश्रीवल्लभवाचकः, पद्य ५) जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छीय परम्परा में श्री ज्ञानविमलोपाध्याय के शिष्य थे। इनका समय वि. सं. १६२० से लेकर १६६० तक का है। वाचक श्रीवल्लभ प्रतिभा-सम्पन्न कवि, सफल टीकाकार, स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त के मर्मज्ञ-वेत्ता, व्याकरण, कोष और लक्षणशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् एवं वादी

होने के साथ-साथ गच्छ-सम्प्रदाय के कदाग्रहों से मुक्त, उदारमना एवं विशुद्ध भारती के उपासक थे। इनकी वैदुष्य एवं वैशिष्टयपूर्ण अमर-कृति सहस्रदल-कमलगर्भित चित्र-काव्य 'अरजिनस्तवः' स्वोपज्ञटीकायुक्त है। अरजिनस्तव की भूमिका में मैंने कवि की गुरु-परम्परा, कवि का परिचय, कवि द्वारा निर्मित साहित्य एवं कवि की विशालहृदयता आदि पर विस्तार से विचार किया है।

श्रीवल्लभोपाध्याय द्वारा निर्मित निम्नांकित साहित्य अभी तक प्राप्त हुआ है—

१. विजयदेवमाहात्म्य-महाकाव्य[१], रचना-समय अनुमानतः १६८७
२. अरजिनस्तव (सहस्रदलकमलगर्भितचित्रकाव्य) स्वोपज्ञटीका-सहित[२] रचना-समय १६५५ और १६७० का मध्य
३. विद्वत्प्रबोध[३] रचना-समय संभवत. १६५५ और १६६० के पश्चात्, रचना-स्थान बलभद्रपुर (बालोतरा)
४. संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्ति-काव्य
५. चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल[४]
६. उपकेशशब्द-व्युत्पत्ति र० सं० १६५५ विक्रमनगर (बीकानेर)
७. मातृकाश्लोकमाला[५]
८. शिलोञ्छनाममाला-टीका[६] र० सं० १६५४ नागपुर (नागोर)
९. शेषसंग्रह-'दीपिका'-टीका[७] र० सं० १६५४ बीकानेर
१०. अभिधानचिन्तामणिनाममाला-'सारोद्धार'-टीका[८] र० सं० १६६७ जोधपुर

---

१. जैन साहित्य संशोधक समिति द्वारा प्रकाशित।
२. मेरे द्वारा सम्पादित एवं सुमति सदन कोटा से प्रकाशित।
३. श्रीजिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार सूरत से 'महावीर-स्तोत्र' में तथा राजस्थान प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर से 'एकाक्षरनामकोष-संग्रह' में प्रकाशित।
४. प्रेसकॉपी मेरे संग्रह में है।
५. मुनि पुण्यविजयजी संग्रह अमदावाद भाग २, ग्रंथांक ४५७२ पर प्राप्त है।
६, ७. बीकानेर वृहद्ज्ञान भण्डार में प्राप्त है।
८. राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में ग्रन्थांक ४३०५, ४३२३, १४१३६ और और १७१६७ पर चार प्रतियाँ प्राप्त हैं।

११. निघण्टुशेषनाममाला टीका[1]

१२. सिद्धहेमशब्दानुशासन टीका[2]

१३. दुर्गपदप्रबोधवृत्ति[3] र. सं. १६६१ जोधपुर

१४. सारस्वतप्रयोगनिर्णय[4]

१५. 'केशाः' पदव्याख्या[5]

१६. चतुर्दशगुणस्थान-स्वाध्याय

प्रस्तुत प्रशस्ति-काव्य के अतिरिक्त श्रीवल्लभ वाचक के स्वयं के हस्तलेखों की दो प्रतियां मेरे अवलोकन में और आई हैं जिनमें से एक तो बाणभट्टकृत 'चण्डीशतक' की महाराणा कुम्भकर्णप्रणीत टोका की सं० १६५५ नागोर में लिखित प्रति जो राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में १७३७६ ग्रन्थांक पर प्राप्त है और दूसरी प्रति श्रीसुन्दररचित 'चतुर्विंशतिजिनस्तुतिः' की प्रति मेरे निजी संग्रह में प्राप्त है।

काव्यनाम

प्रस्तुत काव्य अपूर्ण होने से इसका कवि ने क्या नाम रखा है, निर्णय नहीं कर सकते। काव्य के प्रारंभ में कवि 'श्रीसंघाधिपरूपजीविजयतां' (पद्य ३) तथा 'भुवि श्रावकाधीश्वरो रूपजोः सः' (पद्य ४) का उल्लेख कर, पद्य पांचवें में रूपजी के पूर्वजों का वर्णन करने का संकेत करता है। इससे स्पष्ट है कि कवि संघपति रूपजी की प्रशंसा में यह प्रशस्ति-काव्य लिखना चाहता है, परन्तु काव्य के प्राप्तांश में केवल रूपजी के पिता एवं चाचा संघपति सोमजी और शिवाजी के कतिपय सुकृत कार्यों का ही वर्णन प्राप्त है। रूपजी का जन्म और विशिष्ट कृत्यों का उल्लेख भी इसमें नहीं आ पाया है। ऐसी अवस्था में मैंने इसका 'संघपति रूपजी-वंश-प्रशस्तिनाम रखना ही समुचित समझा है।

---

१. अभिधानचिन्तामणिनाममाला 'सारोद्धार' टीका में उल्लेखमात्र प्राप्त है।

२. विजयधर्मलक्ष्मीज्ञानमन्दिर, आगरा में प्राप्त है।

३. श्री अमीसोमजैनग्रंथमाला, बम्बई से प्रकाशित।

४. भावहर्षी खरतरगच्छ ज्ञान भंडार, बालोतरा में कुछ वर्षों पूर्व यह प्रति प्राप्त थी किन्तु दुःख है कि वह ज्ञान-भण्डार बिक चुका है।

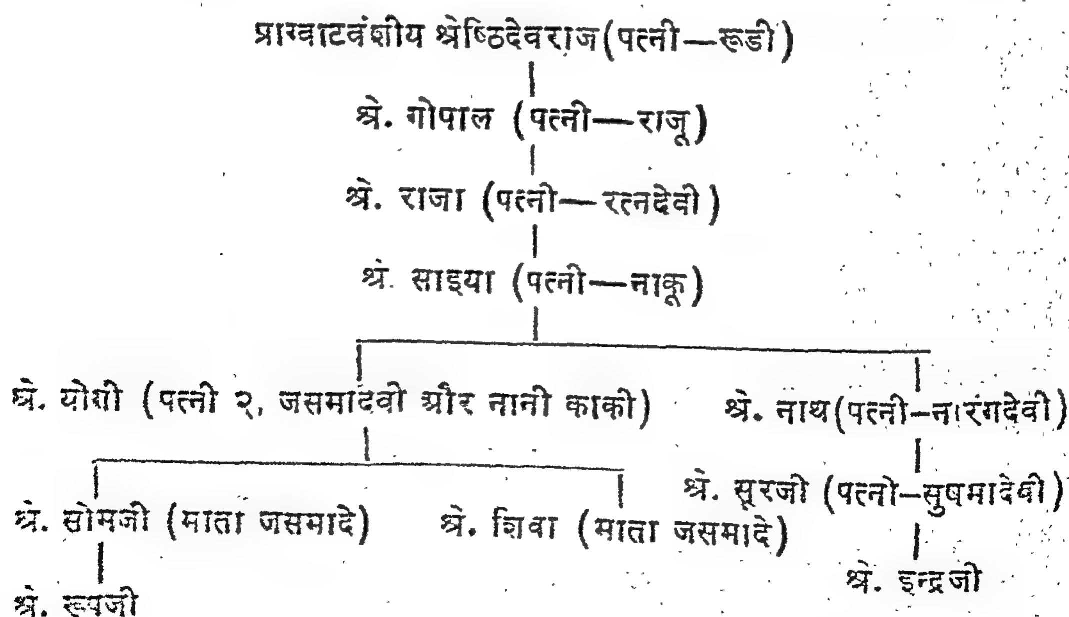
५. महिमा भक्ति जैन ज्ञान भंडार, बीकानेर ग्रं. १८९० पर प्राप्त है।

रचना-समय

संघपति सोमजी ने सिद्धाचलतीर्थ पर खरतरवसही (चौमुखजी की टूंक) का निर्माणकार्य प्रारंभ करवाया था। मीराते अहमदी के अनुसार इस मंदिर के निर्माणकार्य में ५८ लाख रुपये खर्च हुए थे। कहा जाता है कि इस कार्य में ८४०००) रुपयों की तो केवल रस्सी-डोरियां ही लगी थीं। किन्तु दुर्भाग्यवश मंदिर की प्रतिष्ठा कराने के पूर्व ही संघपति सोमजी का स्वर्गवास हो गया। ऐसी अवस्था में सोमजी के पुत्र संघपति रूपजी ने सं० १६७५ में खरतरगण-नायक श्रीजिनराजसूरि के कर-कमलों से इस खरतरवसही की प्रतिष्ठा का कार्य बड़े महोत्सव के साथ सम्पन्न करवाया। दूसरी बात, खरतरगच्छीय पट्टावलियों के अनुसार, इस प्रतिष्ठा-महोत्सव के अतिरिक्त संघपति रूपजी के अन्य विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण कार्यों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। अतः इसकी रचना का समय प्रतिष्ठा-महोत्सव का समय संवत् १६७५ के पश्चात् का ही माना जा सकता है।

ग्रन्थसार

इस काव्य के अनुसार संघपति रूपजी का वंशवृक्ष इस प्रकार बनता है :—



काव्य में वंशावली के अतिरिक्त कवि ने जिन-जिन विशिष्ट बातों एवं कार्यों का इसमें उल्लेख किया है, वे क्रमशः इस प्रकार हैं:—

१. प्राग्वाटवंशीय श्रेष्ठिदेवराज अहमदाबाद का निवासी था। व्यापारियों में मुख्य था। इसने सं० १४८७ माघ शुक्ला ५ को श्री मुनिसुव्रतस्वामी के बिम्ब की प्रतिष्ठा खरतरगणाधीश श्री जिनभद्रसूरि के करकमलों से करवाई थी।

२. संघपति योगी ने स्वधर्मी बन्धुओं को हेममुद्रा (मोहर) की लावणी (प्रभावना) की थी और वह सदा याचकों को अभीष्ट दान देता था।

३. संघपति योगी की प्रथम पत्नी जसमादे ने अहमदाबाद के तलीयापाडे में सुमतिनाथ का नवीन मंदिर का निर्माण करवा कर प्रतिष्ठा करवाई थी।

४. संघपति योगी की दूसरी पत्नी नानी काकी ने एकादश अंगादि समस्त शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करवाकर स्वयं के नाम से ज्ञान भण्डार स्थापित किया था।

५. संघपति सोमजी ने वि० सं० १६४४ में खरतरगणनायक युगप्रधान श्री जिनचन्द्रसूरि से शत्रुंजयतीर्थ की यात्रार्थ सघ निकालने की स्वाभिलाषा प्रकट की। आचार्यश्री की स्वीकृति प्राप्त होने पर सं० सोमजी ने सब जगह आमन्त्रण-पत्रिकायें भेजीं। आमन्त्रण प्राप्त कर अनेकों स्थानों के हजारों यात्री और अनेक संघ अमदाबाद आये और शुभ मूहूर्त्त में संघपति सोमजी की अध्यक्षता में यह तीर्थयात्री-संघ अमदाबाद से चल पड़ा। संघ क्रमशः शत्रुंजयतीर्थ पर पहुंचा और वहाँ बड़ी भक्ति से तीर्थ की अर्चना-पूजा की। संघनायक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि ने सोमजी को संघाधिपति-पद प्रदान किया। यात्रा कर संघ पुनः अमदाबाद आया।

६. सं० सोमजी ने सं० १६४८ में हलारा स्थान के बंदियों को द्रव्य देकर कैदखाने से छुड़वाया।

७. सं० सोमजी ने खरतरगच्छानुयायी समस्त स्वधर्मी भाइयों को सोने की अंगूठी की लंभनिका (प्रभावना) की।

८. सं० सोमजी ने अहमदाबाद के सामलपाडे में सांवला पार्श्वनाथ चैत्य का नवीन निर्माण करवाया।

९. सं० सोमजी ने सूत्रधार धना की पोल में नीचे भूमितल पर आदिनाथ भगवान् का और ऊपर चतुर्मुख (चौमुखा) शान्तिनाथ का विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया और सं० १६५३ में सम्राट् अकबर प्रतिबोधक युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि के करकमलों से चौमुखा शांतिनाथ-मन्दिर की प्रतिष्ठा बड़े महोत्सव से करवाई।

१०. इस प्रकार संघपति सोमजी ने आठ नये मंदिरों का निर्माण करवाया और सिद्धांत, टीका आदि सर्वशास्त्रों की प्रतिलिपियां करवा कर अहमदाबाद में ही ज्ञानभंडार स्थापित किया एवं खरतरगच्छ की सम्पूर्ण रूप से सर्वत्र उन्नति की।

सं० सोमजी के सम्बन्ध में अन्य उल्लेख

संघपति सोमजी के संबंध में अन्य ग्रंथों में जो उल्लेखनीय विशेष बातें प्राप्त होती हैं वे निम्नलिखित हैं :—

१. शीलविजयकृत तीर्थमाला के अनुसार संघपति सोमजी शिवा न केवल प्राग्वाटवंशीय ही हैं अपितु विश्वप्रसिद्ध नेमिनाथमंदिर, आबू के निर्माता महामात्य वस्तुपाल तेजपाल के वंशज हैं:—

वस्तुपाल मंत्रीश्वर-वंश, शिवा सोमजी कुल-अवतंश।
शत्रुंजय उपरि चौमुख कियउ, मानव-भव लाहो तिण लियउ ॥

२. क्षमाकल्याणोपाध्यायकृत पट्टावली के अनुसार सोम और शिवा प्रारंभ में गरीब थे और चिभड़े का व्यापार करते थे। आचार्य जिनचन्द्रसूरि के चमत्कार के प्रभाव से ये धनाढ्य हो गये।

३. वाचक रत्ननिधानकृत चैत्यपरिपाटी-स्तवन के अनुसार सं० सोमजी का संघ सं० १६४४ चैत्र कृष्णा ४ को शत्रुञ्जय पर पहुचा था:—

संवत सोलह सइ चिम्मालइ, बरसि सवि सुखकार।
चैत वदी चउथी दिनइ, बुधवल्लभ बुधवार ॥१०॥
संघपति योगी सोमजी, मन धरि हरख तुरंग।
गच्छपति श्रीजिनचन्द्रनइं, यात्रा करावी रंग ॥११॥
सुविहित खरतर संघनइ, श्री आदिदेव प्रसन्न।
वाचनाचारिजि इम भणइ, रत्ननिधान वचन्न ॥१२॥

४. महोपाध्याय समयसुन्दर-कृत कल्पसूत्रटीका 'कल्पलता' (र०सं० १६८५) की प्रशस्ति में लिखा है कि जगद्विश्रुत सोमजी और शिवा ने राणकपुर, गिरिनार, आबू, गौडी पार्श्वनाथ और शत्रुञ्जय के बड़े-बड़े विशाल संघ निकालकर तीर्थयात्रायें कीं और प्रतिनगर में स्वगच्छानुयायियों को २ रुक्म (सिक्का) की प्रभावना की:—

यद्द्वारे पुनरत्र सोमजि - शिवा-श्राद्धौ जगद्विश्रुतौ,
याभ्यां राणपुरश्च रैवतगिरिः श्रीअर्बुदस्य स्फुटम्।
गौडी श्रीविमलाचलस्य च महान् संघो नयः कारितो,
गच्छे लम्भनिका कृता प्रतिपुरः रुक्मा द्विमेकं पुनः॥

५. गुणविनयोपाध्याय ने ऋषिदत्ता चौपई (र०सं० १६६३) में लिखा है कि सं० शिवा सोमजी ने खभात में भी बहुत द्रव्य खर्च करके अनेकों जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा करवाई:—

श्रीखंभायत थंभण पास, घरण पउम परतिख जसु पास ॥६३॥
श्री खरतरगच्छ गगननभोमणि, अभयदेवसूरि प्रगटित सुरमणि।
धन खरची बहु बिंब भराविय, साह शिवा सोमजी कराविय ॥६४॥
अचरजकारी पूतली जसु ऊपरि, शरणाइ वर भेरि विविह परि।
पास भगति वस जिहा बजावइ, गुरु परसाद रह्या शुभ भावइ ॥६५॥

६. श्री अगरचंद भंवरलाल नाहटा-लिखित युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ० २४२-२४३ में लिखा है कि :—

(क) अहमदाबाद की दस्सा पोरवाड़-जाति में आपने कई अच्छे रीति-रिवाज प्रचलित किये थे। अब भी विवाह-पत्र के लेख में 'शिवा सोमजी की रीति प्रमाणे' लेन-देन की मर्यादा लिखी जाती है। आपके निवास-स्थान धना सुतार की पोल में, जिनालय के वार्षिक दिवस और अन्य प्रसंगों में जब कभी जिमनवार होता है, तब निमंत्रण-पत्र भी 'शिवा सोमजी' के नाम से दिया जाता है।

(ख) धना सुतार की पोल वर्तमान समय में शिवा सोमजी की पोल के नाम से भी प्रसिद्ध है।

(ग) सं० सोमजी-कारित झवेरीवाड़ा के चौमुखजी की पोल में शान्तिनाथ का चौमुख मन्दिर और हाजा पटेल की पोल के कोने में श्री शान्तिनाथजी का मंदिर भी वर्तमान में प्राप्त है।

(घ) सेठ सोमजी शिवाजी का स्वधर्मी-वात्सल्य बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय था। एक बार किसी अज्ञात अपरिचित स्वधर्मी-बन्धु ने विपत्ति के समय आपके ऊपर साठ हजार रुपये की हुंडी कर दी। जब वह हुंडी भुगतान के निमित्त आपके पास आई, तब इनके मुनीम, कर्मचारियों को सारा खाता ढूंढ

लेने पर भी हुंडी करने वाले का कहीं नाम तक न मिला। विचक्षण सोमजी को उस हुंडी के गौरपूर्वक देखने मात्र से उस पर अश्रुविन्दु का दाग देखकर रहस्य समझ में आ गया और अपने किसी स्वधर्मीबन्धु के विपत्ति का अनुभव कर निजी खाते में खरच लिखवा कर सिकार दी। कुछ दिन के पश्चात् वह अज्ञात स्वधर्मी भाई वहाँ आया और आग्रहपूर्वक हुंडी के रुपये जमा करने को प्रार्थना की। किन्तु सोमजी ने, 'हमारा आपके (नाम से) पास एक पैसा भी लेना नहीं है' यह कहते हुए रुपया लेना अस्वीकार कर दिया। आखिर संघ की सम्मति से श्री शान्तिनाथ प्रभु का जिनालय-निर्माण कराने में वे समस्त रुपये व्यय कर दिये गए।

(च) सं० सोमजी की वंश-परंपरा के व्यक्ति अब भी अहमदाबाद में निवास करते हैं।

काव्य की स्वोपज्ञ-टीका

कवि ने इस प्रशस्ति-काव्य के ८-१२, १५-१७, २०, २४, २५, ३१-३८, ४१, ४३, ४४, ५४, ५६, ६२, ६३, ७८ पद्यों में आगत दुर्बोध एवं क्लिष्ट शब्दों की व्याख्या की है और सारे पद्यों में क्लिष्ट शब्दों के लिये टिप्पणी का प्रयोग किया है। वस्तुतः यह टीका न होकर दुर्गम-शब्दों का विवेचन करने वाली टिप्पणिका ही है।

अन्त में विद्वानों एवं शोधकों से निवेदन है कि इस प्रशस्ति-काव्य की कोई पूर्ण प्रति प्राप्त हो तो सूचना देने का कष्ट करें।

वाचकोत्तंस-श्रीश्रीवल्लभगणिविनिर्मितम्

संघपति-रूपजी-वंश-प्रशस्तिः

ऐं नमः ।

श्रेयः श्रीः श्रयते यदीयविशदाऽऽनन्दिप्रसादात्सदा,
कार्यं कर्त्तुमना जनाद्भुतमविः[1] प्रह्वीभवत्येव च ।
स श्रीशान्तिजिनोऽद्भुतां वितनुतां वः सम्पदं शं पदं,
विद्वांसो भविपुङ्गवा भगवतामायुष्मतां श्रीमताम् ॥१॥

भवति नृणां कुशलं चिरकालं,
यदुदितचञ्चदनुग्रहतोऽत्र ।
वितरतु सत्प्रतिभां श्रुतदेवी,
रणरणकप्रणता नृगणैः सा ॥२॥

भास्वद्भासुरपोरवाडनिविडप्रोद्दण्डपूर्वाचल-
प्रद्योतद्युमणिर्नृमस्तकशिरश्चूडामणिर्भूमणिः ।
श्रीसङ्घाधिपरूपजीविजयतां ज्यायान् वरीयांश्चिरं,
जाग्रच्छ्रीजिनशासनोन्नतिकृतां नॄणां सदा ग्रामणीः ॥३॥

गुणौघैः सदाऽमानदानादिभिर्यं,
त्रिलोकास्त्रिलोकीशतुल्यं[2] ब्रुवन्ति ।
चिरं नन्दतान्नन्दयन्तो जनानां,
भुवि श्रावकाधीश्वरो रूपजीः सः ॥४॥

पूर्वं पूर्वजवर्णनञ्च विहिताऽनन्ताऽद्भुतश्रेयसां,
व्याख्यां लक्षविचक्षणैः समुदितां विश्वोदितां दीप्तिवत् ।
जैनश्रावकनायकत्वसनकं तस्या[3]-ऽन्वहं बिभ्रतः,
श्रीश्रीवल्लभवाचकः कविगुरून्नत्वा स्तवीत्यादरात् ॥५॥

---

१. मनाग्मतिकविः । २. त्रयो लोकाः त्रिलोकाः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी तस्याः ईशः विष्णुः । ३, रूपजीकस्य ।

तद्यथा—

अहम्मदावादपुरं पुराणं, वसुन्धराधारनराभिरामम् ।
चकास्ति शास्तीव तदुत्तमान्यद् द्रंगाणि सर्वस्वसमृद्धिभिर्यत् ॥६॥
तत्रोत्तमः सर्वसमृद्धपुंसां, श्रीदेवराजो व्यवहारिराजः ।
रराज साम्राज्यविराजमानः, स्वर्देवराजो मघवेव साक्षात् ॥७॥
लोकोत्तमं सर्वगुणाभिरामं, सौभाग्यदन्तं च समृद्धिमन्तम् ।
श्रीदेवराजं जितदेवराजं, लोका हि लोके लुलुके नृलोकः ॥८॥

व्या०—हि निश्चितं नृलोको मनुष्यपरीक्षको लोकः—जनो लोके—जगति श्रीदेवराजं—श्रीदेवराजश्रेष्ठिनं जितदेवराजं—पराजितेन्द्रं लुलुके—ददर्श ॥८॥

७ ८ ४ १
सप्ताऽष्टवेदैकमिताब्दमाघ-वलक्षपक्षोत्तमपञ्चमाऽह्ने ।
स्वकारितश्रीमुनिसुव्रतार्हद्बिम्बं कृतानन्तसमीहितार्थम् ॥९॥
प्रव्यय्य स द्रव्यचयं महीयो, महोत्सवौघेन जनाऽनघेन ।
हर्षात् प्रतिष्ठापयति स्म हस्ताज्जाग्रत्प्रभावाज्जिनभद्रसूरेः ॥१०॥
युग्मम्

व्या०—सप्ताष्टवेदैकमितो १४८७ यो अब्दः—वर्षस्तस्य यो माघः—माघमासस्तस्य यो वलक्षपक्षः—श्वेतपक्षस्तस्य यत् पञ्चमाह्नः—पञ्चम दिनं पञ्चमीतिथिरित्यर्थस्तस्मिन् । पञ्चमाह्ने इत्यत्र पञ्चमं च तत् अहश्च पञ्चमाह्नः 'अह्नः' इति सूत्रेण तत्पुरुषाऽट् समासान्तः ॥

शुशौड शौडीरसुदानशौण्डो, योषिज्जनो नो मनसा मनोज्ञः ।
यस्याः सदौदार्यगभीरतादीन्, गुणानगण्यानधिकान्निरीक्ष्य ॥११॥
युयौड रूडीत्यभिधा प्रिया सा, तस्य प्रचण्डस्य जनाजडस्य ।
रूडीति भाषा तत एव लोके, प्रावर्त्तते वेत्ति जना उदाहुः ॥१२॥
युग्मम्

व्या०—तस्य देवराजस्य रूडीत्यभिधा प्रिया—प्रेयसी युयौड—सम्बबन्ध अमिलदित्यर्थः । 'यौड़ सम्बन्धे, सम्बन्धः श्लेषः' इति धातुपारायणम् । सा का ? यस्याः सदौदार्यगभीरतादीन् गुणान् निरीक्ष्य योषिज्जनः मनसा नो शुशौड—न जगर्व-

त्यर्थः। किम्भूतः योषिज्जनः ? शौडीरसुदानशौण्डः-पु० यो० मनोज्ञः। कथं० ? गुणान् अगण्यान्-अधिकान्। अत्र कविराशयस्य एवमाह-जना इति उदाहुः। इतीति किम् ? तत एव रूडीनाम्न्या योषित एव, लोके रूडी'ति भाषा प्रवर्त्तते एव। यदीयमीदृशी नाऽभविष्यत्तर्हि मनोहरपर्याया त्रिलिङ्गा रूडीति भाषा लोके कथं अभविष्यत् ? इति। कथम्भूतस्य ? तस्य देवराजस्य प्रचण्डस्य--प्रतापिनः 'प्रचण्डो दुर्वहे श्वेतकरवीरे प्रतापिनि' इति श्रीधरः। पुनः कथम्भूतस्य? जनाजडस्य लोकेषु पण्डितस्य। इति काव्यद्वयार्थः ॥११-१२॥

[इति] देवराजश्रेष्ठिवर्णनम्।

तदङ्गजन्माऽजितपद्मसद्मा, गोपालनामा स बभूव भूमौ[1]।
गोः पालकत्वादिव यं कवीन्द्राः, गोपाल[2]-जेतारमुदारमाहुः ॥१३॥

चित्तावनौ सर्वजनस्य शश्वत्, प्रारंस्त शस्तस्वगुणैरनेकैः।
परोपकारैः प्रचुरप्रकारैः, श्रेष्ठी[2] व्यभासिष्ट स यस्य नाम ॥१४॥[3]

आविश्चकाराऽत्र हि विश्वरेताः, प्रियंवदं सर्वजनप्रियं च।
विपश्चितः प्रोचुरिति क्षितौ यं,पपौ जिनाज्ञां स चिरं च लोकान् ॥१५॥

व्या०—स गोपालः श्रेष्ठी चिरं जिनाज्ञां च-पुनः लोकान् पपौ-रक्ष। सः कः ? यं हि-निश्चितं, अत्र क्षितौ-धरित्र्यां विश्वरेताः-ब्रह्मा प्रियंवदं च-पुनः सर्वजनप्रियमाविश्चकार इति विपश्चितः प्रोचुः ॥१५॥

[इति] गोपालश्रेष्ठि वर्णनम्।

आर्येव वर्या खलु शङ्करस्य, भार्याऽकदर्या वरयोषिदर्या।
रराज राजूरितदुष्कृताजूस्तस्योदितानन्तविभूतिभाजः ॥१६॥

व्या०—तस्य गोपालस्य श्रेष्ठिनः राजूः-राजूनाम्नी भार्या रराज। कस्य केव ? खलु-निश्चितं शङ्करस्य-शम्भोः आर्या इव-पार्वतीव। 'आर्योमाछन्दसोः' इति हैमानेकार्थः, दीर्घस्वरादिरयम्। कथम्भूता पार्वती राजूश्च ? वर्या अकदर्या

---

१. भूपः। २. गोपालः।

३. चित्ताऽवनौ सर्वजनस्य शश्वत्प्रारंस्त शस्तस्वगुणैरनेकैः।
परोपकारैः प्रचुरप्रकारैः, श्रेष्ठी व्यभासिष्ट स यस्य नाम ॥१५॥

अकृपणा वाञ्छितार्थदायिकात्वात् वरयोषिदर्या । अत्र अर्याशब्दः स्वामिनी-पर्याय आद्यस्वरादिः । 'स्यादर्यः स्वामिवैश्ययोः' इत्युक्तत्वात् । इतदुष्कृताजूः दुष्कृतं च आजूश्च नरके हठात् क्षेप इति द्वन्द्वे दुष्कृताज्वौ, इते-गते दुष्कृताज्वौ यस्याः इतदुष्कृताजूः । यद्वा, इता-गता दुष्कृतमेदाऽऽजूर्यस्याः सा तथा । कथम्भूतस्य तस्य गोपालस्य ? उदितानन्तविभूतिभाजः उदयप्राप्तानन्तसम्पद्भजनशीलस्य । कथम्भूतस्य शङ्करस्य ? उदितानन्तविभूतिभाजः-लघिमावशितेशित्वं प्राकाम्यमित्याद्यष्टधैश्वर्यभजनशीलस्य ॥१४॥

[इति] गोपालश्रेष्ठिराजूस्त्रीवर्णनम् ।

काले व्यतीते कियति प्रशस्तं, पुत्रं फलं साऽऽम्रलतेव लेभे ।
राजाभिधेयं स्वगुणैरमेयं, समस्तलोक - स्पृहणीयरूपम् ॥१७॥

व्या०— सा-राजूः गोपालश्रेष्ठिपत्नी राजाभिधेयं पुत्रं लेभे-अलभत । क्व सति ? कियति काले व्यतीते सति-परिणयनानन्तरं कियति काले व्यतिक्रान्ते सतीत्यर्थः । किम् ? केव ? फलं आम्रलतेव-आम्रलक्षणं फलं लभते तथा राजूरपि राजाभिधेयं पुत्रं लेभे इत्यर्थः । कथम्भूतं पुत्रम् ? प्रशस्तं-रोगादिभी रहितत्वात् सुन्दरम् । फलपक्षे तु, सुवातादिना पक्ष्याद्यभक्षणेन च अविनष्टत्वात् सुन्दरम् । पुनः कथम्भूतं पुत्रम् ? स्वगुणैः-स्वकीयौदार्यगाम्भीर्यसौन्दर्यादिगुणैः अमेयं-अपरिगणनीयं, एतस्य इयन्तो गुणा इति गुणगणनाऽशक्यत्वादित्यर्थः । आम्रफलपक्षेऽपि स्वगुणैः-कफहरग्राह्यादिभिर्गुणैरमेयं तथैवार्थः । 'आम्रः कफहरो ग्राही व्रण्यो वातप्रमेहहृत्' इति धन्वन्तरिः । आम्रगुणानाह । पुनः कथम्भूतं पुत्रम् ? समस्तलोकस्पृहणीयरूपं, सुगमं । फलपक्षेप्ययमेवार्थः, परिपक्वगौरवर्णोपेतत्वेन जनानां वाञ्छनीयत्वात् । अत्र फलमिति भिन्नलिङ्गोपमा ॥१७॥

यदीयराजेति सुनामधेये, जजल्पुरित्थं विबुधा विकल्प्य ।
किं पार्थिवः किञ्च निशाकरोऽयं, किं नायकः किं त्रिदिवाधिनाथः ॥१८॥
किं क्षत्रियस्तत्तदनेकदीव्यद्-गुणैर्नराणां कुशलाय शक्तैः ।
लोकप्रकाशैर्विहितारिनाशैः, रराज राजा स चिरं धरायाम् ॥१९॥
युग्मम्

[इति] राजाश्रेष्ठिवर्णनम् ।

तस्याऽभवत् प्रेमरसस्य पात्रं, रत्नादिदेवी प्रवरा हि पत्नी ।
हर्षप्रदा मेघघटेव नव्या, शश्वन्मयूरस्य जनाभिरामा ॥२०॥

व्या०—तस्य-राजाभिधेयस्य प्रवरा रत्नादिदेवी पत्नी अभवत्-आसीत्। कथम्भूता ? प्रेमरसस्य पात्र-भाजनम्। पुनः कथम्भूता ? हर्षप्रदा। कस्य ? केव ? मयूरस्य मेघघटेव, यथा मयूरस्य मेघघटा शश्वत् हर्षविधात्री तथा राजाभिधस्य श्रेष्ठिनः हर्षकर्त्री इत्यर्थः। कथम्भूता ? नव्या जनाभिरामा ॥२०॥

[इति] राजाश्रेष्ठिनो रत्नदेवीवर्णनम्।

प्रख्यातसार्वत्रिकसत्समाख्यः, पुत्रः स तस्याऽजनि साइयाख्यः।
यः प्राड्विवाकोऽग्र्यशिरोवतंसस्ततंस पुंसां स्वगुणैर्नृहंसः ॥२१॥

समस्तलोकं न तृणाय[1] साक्षाद्, यो मन्यतेऽनन्यनृनव्यपुण्यैः।
स्वीयैरमेयैः कविवर्णनीयैर्यशश्चयैश्चाऽव[2] स साइयाख्यः ॥२२॥

दानान्यनेकानि लसत्तपांसि, श्राद्धव्रतानामवनं च शश्वत्।
समाचचार व्यवहारसारः, स[3] तत्त्वभुद्भूपतिसेवितांह्रिः ॥२३॥

सुदानशौण्डा अनु साइयाख्यं, वसुन्धरायां व्यवहारिमुख्यम्।
धर्म्मैकनिष्ठा नृपतिप्रतिष्ठा, गुणैर्गरिष्ठा विबभुर्महिष्ठाः ॥२४॥

व्या०—वसुन्धरायां व्यवहारिमुख्यं साइयाख्यं अनु सुदानशौण्डाः विबभुः। कोऽर्थः ? साइयानाम्नः श्रेष्ठिनो हीना रेजुरित्यर्थः। एवं धर्मैकनिष्ठाः, नृपप्रतिष्ठाः, गुणैर्गरिष्ठाः, महिष्ठाः साइयाख्य अनु विबभुः-हीना रेजुरित्यर्थः। उत्कृष्टेऽनूपेन इत्युत्कृष्टेऽर्थे, अनु इति अव्यययोगे। साइयाख्यमित्यत्र द्वितीया ॥२४॥

यस्योदितांशोरिव सर्वकालं, महो ममंहे समहो महीयान्।
न मंहयामास च सन्महीनान्, निशाकरोग्रग्रहतारकादीन् ॥२५॥

व्या०—यस्य-साइयाख्यस्य महः-तेजः सर्वकालं ममंहे-ववृधे, च-पुनः सन्महीनान्-उत्तममहीपालान् न मंहयामास-न दीपयामास, साइयाख्यश्रेष्ठिनः तेजसः राज्ञां तेजो न किञ्चिदित्यर्थः। 'महुङ् वृद्धौ' भ्वादिरात्मनेपदी, 'महुण् भासार्थः' चुरादिः परस्मैपदी। यस्य कस्येव ? उदितांशोरिव-उदयं प्राप्तस्य सूर्यस्य इव, यथा सूर्यस्य तेजः सर्वकालं वर्द्धते, च-पुनः निशाकरोग्रग्रहतारकादीन् न दीपयति तथा साइयाख्यश्रेष्ठिनस्तेजोऽपि। अत्र साइयाख्यः श्रेष्ठी उपमेयः, उदितांशुरुपमानं

---

१. तृणादपि निकृष्टं मन्यते इत्यर्थः। २. दिदीपे। ३. साइयाश्रेष्ठी।

श्रेष्ठिनो महः उपमेयः, सूर्यस्य महः उपमानम् । श्रेष्ठिनो महस्य यथा सन्महोना निराकरणीयास्तथा सूर्यस्य तेजसो निशाकरोग्रग्रहतारकादयो निराकरणीयाः । कथम्भूतो महः ? समहः-सोत्सवः । अत्र महशब्दो अकारान्तो देववत् । 'महावुत्सव-तेजसी' इत्यनेकार्थः । पुनः क० ? महीयान् ॥२५॥

[इति] साइयाश्रेष्ठिवर्णनम् ।

नाकू इति ख्यातसुनामधेया, पत्नी तदीया शुभभागधेया ।
वभूव सा भूवलये गुणाग्रा, यद्रूपतोऽन्या महिला हि विग्राः ॥२६॥

[इति] साइयाश्रेष्ठिनाकूस्त्रीवर्णनम् ।

सांसारिकानेकनृभोग्यभोगान्, काम्यान्निकामं खलु भुञ्जमाना ।
प्रोत्तुङ्गकार्यं जनमाननीयं, याऽसूत योग्याह्वयमङ्गजं सा[1] ॥२७॥
ततो व्यतीते कियति क्षणे सा[2], पुनर्द्वितीयं तनयं सुसाव ।
नाथाभिधानं जनपूजनीयं, चन्द्रं द्वितीयेव तिथिः कलाढ्यम् ॥२८॥
नवैर्नवैश्चारुतरैः सुसिद्धै-र्मनोरथैः पुण्यत एव पित्रोः ।
यथाक्रमं तौ ववृधात उत्का-वधीयतुश्च व्यवसायविद्याः ॥२९॥
कन्ये उपायंस्त ततः क्रमेण, भ्रातृद्वयं द्रव्यचयं व्ययित्वा ।
महोत्सवांश्च प्रचुरान् विरच्य, प्रायो हि धर्मो गृहिणां विवाहः ॥३०॥

[इति] योगिनाथयोरेकत्र वर्णनम् ।

लक्ष्मीः पयोधिं परिहाय पूर्वं, कालं कियन्तं त्रिदिवे निवस्य ।
सुखान्यलब्ध्वा च जगद्भ्रमन्तो, ययोः शरण्यं शरणं विवेश ॥३१॥
तत्र स्थितैर्घिष्ट च शिष्टरूपाऽस्पर्द्धिष्ट नो दुष्टतराऽपि बुद्धेः ।
सापत्न्यतोऽपीति विचित्रमेतत्, रराजतुः प्रीतसहोदरौ तौ ॥३२॥

युग्मम्

व्या०—तौ-योगिनाथाख्यौ प्रीतसहोदरौ-प्रीतिमद्भ्रातरौ रराजतुः-दिदीपाते । तौ कौ ? ययोः शरण्यं-शरणयोग्यं शरणं-गृहं लक्ष्मीः विवेश-प्राविशत् । कथम्भूता

---

१. नाकूः । २. नाकूः ।

सती ? जगद्भ्रमन्ती सती। किं कृत्वा ? पूर्वं पयोधिं परिहाय कियन्तं कालं त्रिदिवे-स्वर्गे निवस्य-उषित्वा, च-पुनः सुखानि अलब्ध्वा-स्वर्गे सौख्यानि अलब्ध्वेत्यर्थः। च-पुनः तत्र योगिनाथयोर्गृहे स्थिता ऐधिष्ट-प्रवर्द्धत। कथम्भूता ? शिष्टरूपा। काकाक्षिगोलकन्यायेन चकारस्य पुनर्ग्रहणात् च-पुनः सापत्न्यतोऽपि-सपत्नीभावादपि बुद्धेर्नो अस्पर्द्धिष्ट-धर्मबुद्धया सह स्पर्द्धां न अकरोत्, इत्येतत् विचित्रं-विशिष्टमाश्चर्यम्। कथम्भूता ? दुष्टतरा। अपीति सम्भावनायाम् ॥३१-३२॥

शास्त्रेष्विति श्रूयत एतदिष्टं, पुनाति गङ्गाह्लदिनी जनौघान्।
कृताप्लवान् सम्प्रति पापनाशात्, श्रीयोगिनाथौ पुपुवात इभ्यौ ॥३३॥

व्या०—शास्त्रेषु एतदिष्टं इति श्रूयते। इतीति किम्? गङ्गाह्लदिनी-गङ्गानाम्नी नदी जनौघान् पुनाति, सम्प्रति श्रीयोगिनाथौ इभ्यौ जनौघान् पुपुवाते-अपुनाताम्। 'पूञ्श पवने' क्र्यादिरुभयपदी। कथम्भूतान्? कृताऽऽप्लवान्-कृतस्नानान्। द्वितीयपक्षे कृतः-विहितश्चरणयोराप्लवः प्राप्तिरर्थात् स्पर्शो यैस्ते तथा तान्। अत्र शाकपार्थिवादिवत् मध्यपदलोपी समासः, सति च तस्मिन् चरणशब्दस्य लोपः। कस्मात्? पापनाशात्, गङ्गास्नानात् पापनाशः आत्मशुद्धिश्च। तद्द्वयं योगिनाथयोश्चरणस्पर्शादेवेति भावः ॥३३॥

अर्थतयोः पृथक्-पृथग्वर्णनम्

अलब्धलाभो मुनिसङ्गतिश्च, ध्यानं जिनादेः स्वहिताय शश्वत्।
रसायनानि प्रवरौषधानि, द्रव्याणि यत्सन्ति परोपकृत्यै ॥३४॥
योगीति नाम प्रवरं यथार्थ - मिन्नन्तमानन्दकरं नराणाम्।
एतान् षडर्थानिह योगशब्दे, विज्ञाय विज्ञाः कथयाम्बभूवुः ॥३५॥

युग्मम्

व्या०—अलब्धलाभः १, सङ्गतिः २, ध्यानं ३, रसायनं ४, औषधं ५, द्रव्यं ६, एते षट् योगशब्दस्यार्थाः। एषां योगात् योगी।

सन्मार्गणाऽऽलिभ्य इव द्विपो यो, दानं ददानोऽप्रियताऽऽदरेण।
रात्रिंदिवं पूरितमानवाशः, सोऽलंचकाराऽवनिमेव योगी ॥३६॥
शुभाऽमृताऽऽदित्यसुयोगयुक्तः, सहस्रशो घस्र इवेहितार्थान्।
चकार चाऽरं स तिरश्चकार, प्रायोऽर्थिनां दुर्विधतां क्षणेन ॥३७॥

व्या०—स योगिश्रेष्ठी क्षणेन–प्रायो बाहुल्येन अर्थिनां–याचकानां प्रयोजनवतां वा दुर्विधतां–निःस्वत्वं तिरश्चकार। चान्यत् ईहितार्थान्–वाञ्छितप्रयोजनानि सहस्रशः अरं–अत्यर्थं चकार। क इव ? घस्र इव–दिवस इव। कथम्भूतो दिवसः ? शुभामृतादित्यसुयोगयुक्तः–शुभयोगाऽमृतयोगरवियोगसहितः। कथम्भूतः योगी ? शुभं च–कल्याणं अमृतं च–मरणाभावः आदित्याश्च देवा अर्थात् तीर्थंकरास्तेषां सुयोगः--शोभनयुक्तिस्तया युक्तो यः स तथा। 'स्यादादित्यः सुरे रवौ' इति श्रीधरः ॥३६--३७॥

पापाऽरिविध्वंसनतत्परत्वात्, सर्वस्य लोकस्य वशंकरत्वात्।
दरिद्रदारिद्र्यविघातकत्वात्, त्र्यर्थो हि योगीव बभूव योगी ॥३८॥

व्या०—योगी–श्रेष्ठी हि–निश्चितं त्र्यर्थः–अर्थत्रयोपेतः योगीव बभूव–आसीत्। प्रथमार्थे—योगः सन्नाहः सोऽस्त्यस्य योगी सन्नाहवान्। द्वितीयार्थे—योगः--कार्मणं सोऽस्त्यस्य योगी--कार्मणवेत्ता इत्यर्थः। तृतीये अर्थे—योगः--विस्रब्धघाति अर्थात्ततुल्यं योगः–धनमित्यर्थः सोऽस्त्यस्य योगी–धनवान् इत्यर्थः। यथाक्रमं त्र्योपि पापारिविध्वंसनतत्परत्वादित्याद्या हेतवोऽपि योज्याः। योगशब्दस्य सन्नाह १, कार्मण २, विस्रब्धघातिनः ३ एते त्रयोऽर्थास्तत ईन् प्रत्यये योगीति ॥३८॥

इति सङ्घपतियोगिवर्णनम्।

अथ नाथाख्यसङ्घपतिवर्णनम्

आह्लादकः सर्वजनस्य भास्वान्, भ्राता तदीयः[1] स हि नाथ आसीत्।
समस्तलक्ष्मीनिलयो निलीनो, व्रतेषु यो द्वादशसूत्तमेषु ॥३९॥
सुधर्म्मकर्मादिकनेमिसीमां, न यस्य कोऽपि ह्युदलङ्घयन्ना।
नाथो धनी धर्मपरायणोऽभूद्, भूमौ स भूमीपतिलब्धमानः ॥४०॥
ज्यायान् हि यः सज्जनदुर्जनानां, द्व्यर्थो नु नाथः समभूत् शरीरी।
प्रत्यक्षतोऽभासत भासुरात्मा, भास्वत्प्रतापः स चिराय नाथः ॥४१॥

व्या०—स नाथः सङ्घपतिः चिराय अभासत–दिदीपे। सः कः ? यः ज्यायान् भूमौ सज्जनदुर्जनानां प्रत्यक्षतः शरीरी–शरीरवान्। नु इत्यव्ययं उपमायां। नाथः नाथ इवत्यर्थः। द्व्यर्थः–अर्थद्वयवान्, हि–निश्चितं समभूत्। सज्जनपक्षे, सज्जनानां पोषकत्वेन नाथः–स्वामी आसीत्। दुर्जनपक्षे, दुर्जनानां निराकरणात् नाथः–उपतापकः समभूत्। कथम्भूतो नाथः ? सज्जनपक्षे, भासुरात्मा–देदीप्यमानस्वरूपः। दुर्जनपक्षे, भयङ्करस्वरूपः। 'भयङ्करे तु डमरमाभीलं भासुरं तथा' इति

१. योगिश्रेष्ठिनः।

हैमशेषः। पुनः कथम्भूतो नाथः ? भास्वत्प्रतापः–सूर्यसदृक्तेजाः। 'नाथृ उप तापैश्वर्याशीःषु च' भ्वादिरात्मनेपदी। आशिषि नाथ इत्याशिष्ये वाऽऽत्मनेपद-नियमात् अर्थान्तरे परस्मैपदमेव। 'नाथति ईष्टे' इति नाथः प्रथमपक्षे, नार्थति दुर्जनान् उपतपति इति नाथः द्वितीयपक्षे, एवं द्व्यर्थो नाथशब्दः शरीरी समभूत् ॥४१॥

इति नाथाख्यसङ्घपतिवर्णनम्।

सङ्घाधिनाथस्य हि नाथनाम्नो, नारङ्गदेवी गृहिणी वरेण्या।
अगण्यपुण्यार्जनसावधाना, प्राणप्रिया प्रेमवती बभूव ॥४२॥

स्वस्वामिनाऽमा स सुखं सुभोगान्, प्रभुञ्जमाना समये समायम्।
श्रीसूरजीनामकमङ्गजं सा, कुलप्रदीपं समसूतरूपम् ॥४३॥

व्या०—समायं–कृपासहितं बुद्धिसहितं वा 'माया दम्भे कृपायां च स्यान्माया शाम्बरीधियोः' इति श्रीधरः। समसूतरूपमित्यत्र 'प्रशंसायां रूपप्' इति रूपप् ॥४४॥

श्रीसूरजीः सर्वजगत्प्रकाशी, श्रीसूरजीवद्द्युरिवाऽसुरत् सः।
श्रीसूरऽजीवत् स्ववधूषु यस्य, श्रीसूरजीवः कृतवाञ्छितत्वात् ॥४४॥

व्या०—स श्रीसूरजी सङ्घपतिरसुरत्–अदीप्यत। क इव ? श्रीसूरजीवद्-द्युरिव श्रीसूरेण–श्रासूर्येण जीवन् यो द्युः–दिवसः श्रीसूरजीवद्द्युः स इव श्रीसूर-जीवद्द्युरिव। कथम्भूतः ? अत एव सर्वजगत्प्रकाशी। स कः ? यस्य श्रीसूः–कन्दर्पः स्ववधूषु–स्वकीयपरिणीतस्त्रीषु अजीवत्–प्राणात्, न परस्त्रीषु। अनेन ब्रह्मचर्यपालनतत्परत्वमसूचि। पुनः कथम्भूतः ? श्रीसूरजीवः शसयोरैक्यात् श्रिया उपलक्षिता ये शूराः–सुभटास्तेषां जीव इव जीवः श्रीसूरजीवः। कस्मात् कृतवाञ्छितत्वात् ॥४४॥

प्रज्ञाऽथ जज्ञे सुषमादिदेवी, सधर्मिणी धर्मपरायणात्मा।
प्राणप्रिया सुप्रणया तदीया, लोके सदा प्रत्ययिता सुवृत्तात् ॥४५॥

इति सूरजीस्त्रीवर्णनम्।

तस्यां[1] हि तस्या[2]-ऽभवदिन्द्रजी स, पुत्रः पवित्राऽवयवाभिरामः।
गुणान् यदीयान् गुणिवर्णनीयान्, स्तुवन्ति सर्वे कवयः प्रसन्नाः ॥४६॥

इति श्रीसूरजीपुत्रस्य इन्द्रजीकस्य वर्णनम्।

---

१. सुषमादेव्यां। २. सूरजीकस्य।

श्रीयोगिनः श्रावकनायकस्य, श्रीपोरवाडान्वयदीपकस्य ।
भार्या जनार्या जसमादिदेवी, दिदेव देवीव कृतेप्सितार्था ॥४७॥

या रूपरम्भा रतिरूपजेत्री, स्वस्वामिसेवारतिरक्तनेत्री ।
अनन्यसौजन्यसुरञ्जितान्या, सा[1] भासते सर्वजनाभिमान्या ॥४८॥

[2]नान्यादिकाकीत्यभिधा द्वितीया, साऽभूद् द्वितीया स्वगुणाऽद्वितीया ।
ररञ्ज या सर्वकुटुम्बलोकान्, श्रीयोगिनो भोगपुरन्दरस्य ॥४९॥

इति श्रीयोगिनो द्वे स्त्रियौ ।

तत्रादिमा[3]-ऽसूत तनूजयुग्मं, हृद्याऽनवद्याऽवयवैर्नृ रत्नम् ।
श्रीसोमजीति प्रवरेण नाम्ना, शिवाभिधानं शिवदं द्वितीयम् ॥५०॥

स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा स्वकरैश्च नेत्रै-रानन्दवृन्दस्तिमितैस्तदिष्टम्[4] ।
ननन्दतुस्तौ पितरौ[5] पटू[6] द्वौ, हर्षो हि सर्वस्य सुपुत्रलाभे ॥५१॥

अथ प्रवृद्धं विबुधं बुधेभ्यो-ऽनवद्यविद्याऽध्ययनाद् व्यभात्तत्[7] ।
लब्ध्वा वरं यौवनमुत्सवौघैः, क्रमाच्च कन्ये खलु पर्यणेष्ट ॥५२॥

तत्राऽऽदिमः स्थामसुधामधाम, श्रीसोमजीः सोमसमाऽऽननश्रीः ।
सौभाग्यभाग्योदयतश्च पुण्यात्, कन्यामुपायंस्त पुनः प्रशस्ताम् ॥५३॥

अथ सोमजीवर्णनम्

यस्मात्सदा सर्वजनीनमुख्याद्, वनीपकौघो वननेन्धनानि ।
ववान् चोर्वीशचयो यदंह्री, श्रीसोमजीः सोऽत्र चिरं जिजीव ॥५४॥

व्या०—'वनूयी याचने' तनादिरात्मनेपदी, ययाचे इत्यर्थः । 'वनषन सम्भक्तौ, भ्वादिः परस्मैपदी, सिषेवे इत्यर्थः ॥५५॥

सौम्याकृतिः सौम्यमतिर्महीया-नौदार्यचातुर्यसुशौर्यवर्यः ।
योऽखण्डयत् सौम्यगुणेन चन्द्रं, श्रीसोमजीः सोऽत्र चिरं जिजीव ॥५५ ।

१. जसमादे । २. नानी काकी । ३. जसमादे । ४. तत्पुत्रयुग्मम् । ५. माता च पिता च पितरौ मातापितराविति पितृशब्दशेषः । ६. पटुश्च पट्वी च पटू पुरुषः स्त्रियेति पुरुषशब्दस्य शेषः । ७. सोमजी शिवा नाम लक्षणं पुत्रयुग्मम् ।

कदापि चित्ते न हि यस्य रोषः, सन्तोषपोषः सह सर्ववर्णैः ।
विद्वेषदोषौ न न च द्विषन्तः, स सोमजीगौंर इवाऽऽस साङ्गः ॥५६॥

व्या०—स सोमजीः सङ्घपतिः आस—दिदीपे । क इव ? साङ्गः—मूर्त्तिमान् गौर इव—गौरवर्ण इव । सः कः ? यस्य चित्ते कदापि सर्ववर्णैः सह ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रैः सार्द्धं न हि रोषः किन्तु सन्तोषपोषः । श्वेतवर्णस्यापि पीतादि-वर्णैः सह न रोषः किन्तु सन्तोष एव । यथा श्वेतवर्णे अन्ये पीताद्याः सर्वे वर्णा मिलन्ति तथा श्रीसोमजीकेऽपि चत्वारो वर्णा अप्रियन्ते इति भावः । शेषं सुगमम् ॥५६॥

प्रापालयन् मञ्जुलनिष्कलङ्कं, शीलं सलीलं सुकलः सदा यः ।
आबालभावं खलु वार्द्धकान्तं, चिरं चमत्कारकरः स रेजे ॥५७॥
धनी धनानां य उपार्जिताना-ममानदानं फलमाततान ।
शाखीव शाखादिभिरेधमान-श्चिरं स[२] सच्छाय इहैधतोर्व्याम् ॥५८॥
सदाऽप्रियन्ताऽभिमताः सुवर्णा, रागं स्वकं सम्पुपुषुर्विदोषम् ।
यस्मिन् परान्ना इव संश्रयन्तो, लोकेभ्य इभ्यो व्यरुचत् स सोमः ॥५६॥
पञ्चेन्द्रियत्वं परिहाय लोका-देकेन्द्रियत्वेन विधाय रूपम् ।
किं तिष्ठतीव त्रिदिवे सुरद्रु-र्यद्दानलीला विजितोऽजयत्सः[३] ॥६०॥
श्रीसोमजीनाममिषं मनुष्य-लोके विधाय स्वविमानतः स्वः ।
धर्मं चिकीर्षुस्स चतुष्प्रकार-मवातरत् किं सुकृताभिलाषी ॥६१॥

[इति] श्रीसोमजीवर्णनम् ।

अथ लघुभ्रातृ-सङ्घपतिशिवावर्णनम्

शिव[४] ! त्वमेवेव शिवः[५] शिवाय[६], प्रवर्त्तसे सर्वजनस्य शश्वत् ।
आर्याश्रितः सर्वविभूतिदीप्तो, भोग्युत्तमः सद्वृषभाभिरामः ॥६२॥
शिवस्य साक्षात् शिवमेव सर्वे, विबुद्धय बुद्धया विबुधा मनुष्याः ।
आमुष्मिकानेकशिवार्थिनस्त्वां, शिवाऽनिशं श्रय इवाऽऽश्रयन्ते ॥६३॥

---

१. २. ३. सः—सोमजीः । ४. हे शिवसंघपते ! ५. शिव इव—शम्भुरिव, इवोऽत्र भिन्नक्रमः । ६. शिवाय-क्षेमाय ।

व्या०—हे शिव ! हे शिवाख्य-सङ्घपते ! सर्वे विबुधाः आमुष्मिकानेकशिवार्थिनो मनुष्याः त्वां अनिशं श्रेय इव—धर्ममिव आश्रयन्ते—सेवन्ते । किं कृत्वा? शिवस्य—मोक्षस्य साक्षात्—प्रत्यक्षं शिवमेव—क्षेममेव बुद्ध्या—अर्थात् स्वकीयया धिया विबुद्ध्य—ज्ञात्वा, यथा धर्मविधानान्मोक्षक्षेमावाप्तिस्तथा एतत् सेवाविधानात् क्षेमप्राप्तिरिति ज्ञात्वेति भावः। श्रेय इवेत्यत्र अनुप्रासालङ्कारात् भिन्नलिङ्गोपमालङ्कारः ॥६३॥

ध्यायन्ति लोकाः शिव[1] इत्यरं ये, शिवाद्भुतानन्तसमीहिताय ।
तेषां पिपर्षीप्सितमाखवऽतोऽङ्गं,त्यक्त्वा शिवो[2]-ऽभूत् शिवरूपधारी[3] ॥६४॥

शिवालयत्वाद्[4] विजयाश्रितत्वात्[5], विद्वद्गणामोदितमानसत्वात्[6] ।
स्पष्टाष्टमूर्त्ति[7]-त्वत एव चाऽयं, निराकरोतीव शिवः शिवं किम् ॥६५॥

शिवं शिवं नाम शिवं यदीयं, शिवप्रियाः[8] सर्वजनाः स्मरन्ति ।
[9]शिवप्रभावादधिकप्रभावः, शिवः प्रियोऽयं शिववत्स पुंसाम् ॥६६॥

[10]शर्वत्ववश्यं शिववान् स शश्व-च्छिवोऽशिवान्याऽऽशु विशां शिवोव[11] ।
यच्छ्रेयसो विश्वसितीह विश्वं, विश्वं यशो यस्य हि शंसतीति ॥६७॥

दोदोष्टि दुष्टेषु कदापि नो यस्तोतोष्टि शिष्टेषु जनेषु नित्यम् ।
शेश्लेष्टयभीष्टान् विदुषोऽनगारान्, रोरोष्टि नो रुष्टजने शिवोऽव्यात्[12]

नेनेति योऽर्थान् बहुधार्थिलोकान्, जेजेति वादे प्रतिवादिवृन्दम् ।
शेश्रेति भूपांश्च सदा गुरूद्घान्, स्तुवन्तु तं सङ्घपतिं शिवं ज्ञाः ॥६८॥

---

१. हे शिव ! हे शिवाह्यसंघपते ! २. ईश्वरः। ३. कालरूपधारी। ४. शिवाया गौर्यालयो यस्मिन तस्य ज्ञातस्तत्त्वं, पक्षे शिवस्य आलयो यः स०। ५. विजयया—गौरीसख्यान्वितः, पक्षे विजयेन अन्वितः। ६. विद्वांसो ये गणा नन्द्यादयस्तैरामोदितं मानसं यस्य०, पक्षे विदुषां गणैः—समूहैरा०। ७. स्पष्टा अष्टमूर्त्तयो यस्य०, स्पष्टा अष्टा व्याप्ता सुभगत्वेन मूर्त्तिः—कायो य०, अक्षौ व्याप्तौ च इत्यस्य क्ते रूपम्। ८. शिवः सङ्घपति प्रियो येषां। ९. शम्भुप्रभावात्। १०. हिनस्तु। ११. के इव ? शिवोव। व इवार्थे, गुग्गुलुरिव शिवयोग इव, वेद इव वा। यथा गुग्गुलुः शिवनामा योगः वेदो वाऽशिवान् हन्ति तथा०। १२. स शिवोऽव्यात्।

पुत्रन्ति[1] लोकाः सकला यदग्रे, मित्रन्ति सर्वत्र हि शत्रवश्च ।
सुभ्रातरन्ति प्रवरा नरेन्द्राः, पश्यन्तु तं सङ्घपतिं शिवं ज्ञाः ॥७०॥
अभ्यस्तहृन्न्यस्तसमस्तविद्यां, यद्बुद्धिमित्याहुरभीक्ष्ण दक्षाः ।
बृहस्पतिः किं भुवि भासुराङ्गः, श्रीसङ्घनाथः स शिवो विभाति ॥७१॥

इति श्रीशिवासङ्घपतिवर्णनम् ।

एवं हि योगी नरपुङ्गवोऽथ, स्वकीयदीव्यत्परिवारसारः ।
वृद्धो व्यधाद् धर्ममनोरथौघान्, नवान्नवान्मानववर्णनीयान् ॥७२॥

तद्यथा—

पूर्वं ह्यपूर्वाकृतिहेममुद्रा, देदीप्यमाना जिनधर्ममुद्राः ।
साधर्मिकेभ्यो व्यतरत्तरां यो, योगी स योगीव बभौ सुधर्मा ॥७३॥

'योगी स भोगी विबभौ सुधर्मा 'इति वा पाठः

अमानधान्याम्बरसारसारं, दानं सदादानमहर्निशं च ।
योगी ददावर्थिचयाय हर्षात्, स्वश्रेयसे श्रेयस उर्वरायाम् ॥७४॥

आद्याऽनवद्या जसमादिदेवी, पत्नी तदीया द्रविणव्ययेन ।
अकारयच्छ्रीसुमतेर्जिनस्य, प्रशस्यचैत्यं सहितं च चैत्यैः ॥७५॥
नानाप्रकाराकृतिभिर्वराभि - र्विचित्रवर्णैः सुविचित्रिताभिः ।
विराजमानं बहुपुत्रिकाभिः, साक्षाद्विमानं तविषाऽऽगतं किम् ॥७६॥

युग्मम्

अहम्मदावादपुरान्तरस्थे, लसत्तलीयाभिध - पाटकेऽस्मिन् ।
बाभाति तच्चैत्यमुदाररूपं, पापापहं सम्प्रति सर्ववीक्ष्यम् ॥७७॥
प्रपूज्य चैत्यं च निरीक्ष्य लोका, इत्याहुरर्हन्सुमतिर्यथार्थः ।
एतल्लसच्चैत्यविधापिकाऽपि, श्रेयः - प्रियात्मा सुमतिर्बभूव ॥७८॥

व्या०—लोका इत्याहुः । किं कृत्वा ? चैत्यं अर्थात् सुमतिनाथबिम्बं प्रपूज्य

1. पुत्रन्ति पुत्रमिवाचरन्ति । एवं मित्रन्ति, सुभ्रातरन्ति । अत्र सर्वत्र कर्तुः क्विप्' इति क्विप् ।

च–अन्यन्निरीक्ष्य । इतीति किम् ? सुमतिरर्हन् यथार्थः, परं एतल्लसच्चैत्य-विधापिकाऽपि–जसमादे-नाम्नी योगिसङ्घपतेः पत्नी सुमतिर्बभूव । कथम्भूता एतल्लसचैत्यविधापिका ? श्रेयः-प्रियात्मा इत्युक्तिलेशः॥७८॥

श्रीयोगिसङ्घाधिपतेर्लघिष्ठा, नान्यादिकाकी[1] गृहिणी द्वितीया ।
फलं विशालं वहुलेखनस्य, ज्ञानस्य शुश्राव गुरोर्मुखाब्जात् ॥७९॥

उत्पन्नतल्लेखनभव्यभावा, ज्ञानाऽन्तरायक्षयहेतवे सा ।
एकादशाङ्ग्यादिकसर्वशास्त्र-कोशं मुदाऽकारयदात्मनाम्ना ॥८०॥

सा श्राविका तप्यतपांस्यतप्त, षष्ठादिकान्युज्जमनान्वितानि ।
अन्यैरशक्यानि जनैर्विधातुं, संसारसौख्यानि विषं विबुध्य ॥८१॥

श्रीसोमजीरित्यथ सङ्घनाथः, पप्रच्छ नत्वा जिनचन्द्रसूरिम् ।
सङ्घं महान्तं करवाणि पुण्यं, वर्षे चतुर्वेदषडेकसंख्ये (१६४४) ॥८२॥

महाऽवनीमण्डनमण्डलाना-मधीश्वरेभ्योऽप्यधिकप्रतापः ।
विवन्दिषुः श्रीविमलाचलेशं, श्रीमारुदेवं सुकृताभिलाषी ॥८३॥
युग्मम्

ततः समाख्यत् जिनचन्द्रसूरिः, कुरुष्व मा त्वं प्रतिबन्धमत्र ।
प्रसन्नचित्तोऽथ समस्तदेश-संघान् स आकारयदादरेण ॥८४॥

आकारणं तस्य निशम्य सर्वे, पृथक्-पृथक्-देशमहाजनौघाः ।
प्रमुद्य हृद्युन्नतिकृन्मुहूर्त्ते, प्रतस्थिरे तीर्थकरार्चनार्थाः ॥८५॥

तेऽनुक्रमेणादरतोऽध्वनीन- ग्रामोत्तमद्रंगजिनाऽनगारान् ।
प्रवन्दमानास्त्वरितप्रयाणै - रहम्मदावादपुरं ह्यवापुः[2] ॥८६॥

श्रीसोमजीः सङ्घपतिस्तदानी - ममोदता[3]-ऽऽपृच्छत[4] चादरेण ।
प्रभूतदेशागतयात्रिकौघान्, महर्द्धिकान् वीक्ष्य विकस्वराक्षः ॥८७॥

---

१. नानी काकी । २. समीयुः । ३. अमोदत–'मुदि हर्षे' आत्मनेपदि । ४. आपृच्छत-आलिङ्ग्य कुशलादि अपृच्छत् इत्यर्थः । 'प्रच्छंत् ज्ञीप्सायाम्' आङ्पूर्वः प्रच्छिरालिंगनादिना आनन्दनार्थः । यत्कालिदासो मेघदूते—'आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिंग्य शैलम्' इति ।

एकत्रभूतान् परदेशसङ्घान्, स्वदेशसङ्घांश्च कृताऽनघोद्घान्।[1]
अमन्दता[2]ऽमन्दमना अमन्दः[3], श्रीसोमजीः सङ्घपतिः प्रमोदात् ॥८८॥
मौहूर्त्तिकोक्ते शुभलग्नयुक्ते, शस्ते मुहूर्त्ते सुदिने दिनेऽथ।
श्रीसोमजीः सद्विजिगीषु भूप, इव प्रतस्थे महतोत्सवेन ॥८९॥
निरीक्ष्यमाणोऽनिमिषाक्षिभि-र्यो योषिज्जनानामिति चाननाब्जैः।
संस्तूयमानस्सुतरां जय त्व-माधारभूतो जगतोऽसि यत्तत् ॥९०॥
व्रज्याऽध्वनि ध्वस्तसमस्तदुःखः, श्रेयोधिया स्वीयजयोदयाय।
हस्तेन हस्तिस्थित इन्द्ररूपः, प्रोल्लालयल्लब्धधनो धनानि ॥९१॥
स्तुतिव्रतैः सुन्दरनव्यनव्य-भोगावलीभिः खलु कथ्यमानाः[4]।
शृण्वन् कृतानेकजनप्रमोदाः, स्वोपार्जिताः सद्विरुदावलीश्च ॥९२॥

चतुर्भिः कलापकम्।

अत्युज्ज्वलानध्वनि वल्गुशालीन्, सन्मुद्गदालीन् प्रचुराज्यनालीन्।
नव्यान्नपक्वान्नसुतेमनालीन्, प्राभोजयत् सङ्घपतिर्नरालीः ॥९३॥
वातेरितात्यद्भुतपत्रगुच्छै-र्वृक्षा मनुष्या इव रोमगुच्छैः।
अवीजयन्नध्वनि तं व्रजन्तं, निरीक्ष्य राजानमिवाऽवनीशम् ॥९४॥
केऽप्याऽऽतपत्रन्[5] पथि सान्द्रपत्राः, श्रान्तस्य तस्योपरि भूरुहौघाः।
अमालिकन्[6] केऽपि च नव्यपुष्प-फलश्रियः पुष्पफलोपदाभिः ॥९५॥
आरण्यतिर्यञ्च इति स्ववाण्याऽब्रुवन्निवाऽद्यैव वयं हि धन्याः।
पुण्यात्मनोऽस्याऽऽस्य कुशेशयं यत्, सम्प्रत्यपश्याम निकामकाम्यम् ॥९६॥
मुदोन्मुखश्चञ्चुमुखाश्च केचित्, तिर्यञ्च उच्चैरवचन्नि[7]-वेति।
मनुष्यरूपं समवाप्य यात्रां, चिकीर्षुरेषोऽद्भुतसम्पदिन्द्रः ॥९७॥

---

१. कृतो अनघः पापरहितः उद्घः-अञ्जलिर्यैस्ते तान्। 'उद्घो हस्तपुटे' इत्यनेकार्थः। हस्तपुटः अञ्जलिः' इति तट्टीका। २. मदुङ् स्तुतिमोदमदस्वप्नगतिषु' इति धातुपारायणः ३. अमन्दः–नीरोगः अनलसः भाग्यवान् वा मन्दो मूढे शनौ रोगिण्यलसे भाग्यवर्जिते इत्यनेकार्थः। ४. वर्ण्यमानाः। ५. आतपत्रन् आतपत्राणीवाचरन्। ६. अमालिकन् मालिका इव आचरन्। कर्त्तुः क्विप् इति क्विपि ह्यस्तन्या प्रथमपुरुषबहुवचनाऽनोरूपम्। ७. अवचन् इति वचक् परिभाषणे इत्यस्य ह्यस्तन्यामऽनोरूपम्।

तिर्यञ्च इत्यूचुरिवेह[1] केचिद्, [2]वज्रीदमत्येव स किं वराकः ।
अर्थे प्रभूते तृणमप्यरम्यं[3], दातुं न यः कर्हिचिदप्यऽशक्नोत् ॥९८॥

विद्वानिवार्थान् विविधार्थिने यो, लोकाय लोकायतगीतकीर्त्तिः ।
सदा ददौ नाभिमहीपपुत्रं, स सोमजीर्रति जिनं निनंसुः ॥९९॥

युग्मम्

प्रापत् क्रमात् विक्रमविक्रमार्कः, शत्रुञ्जयाद्रिं विजिताऽजितारिः ।
स [4]सङ्घनाथस्तदुपत्यकायां, स्थूलस्थुलालोर्बहलाश्च तेने ॥१००॥

रक्तावदातादिविचित्रवर्ण - दूष्याद्यऽदूष्यग्रहणैः स्वदेहम् ।
अलञ्चकारेति वुधा अवुध्य-न्नुपत्यका स्त्रीव मुदा तदानीम् ॥१०१॥

अष्टापदं श्रीभरताभिधानश्चक्री यथा श्रीविमलाचलं सः ।
तथाऽऽरुरोह स्वकुलाद्युपेतः, श्रीमारुदेवं जिनपं प्रणन्तुम् ॥१०२॥

कश्मीरजन्मादिभिरर्चयित्वा, स्तुत्वा गुणौघान् गुणिवर्णनीयान् ।
अपोपवीत् स्वीयवपुर्विपापं, स शस्तहस्ताननभासुराभम् ॥१०३॥

जिनं हि सङ्घाधिपसम्मुखीनं, मुदा समायान्तमिवाऽभिवीक्ष्य ।
वीक्ष्य प्रपन्नाः स्वमुखेन सर्वे, विद्वज्जना इत्यवदंस्तदानीम्[5] ॥१०४॥

यदेष मा पूजयितुं समायात्, द्वाभ्यां समानां किल विंशतिस्याम्[6] ।
पापात्मभिर्भूपतिभिर्निषिद्धं, विधाय मार्गं बहुमानमद्य[7] ॥१०५॥

युग्मम्

अष्टप्रकारां प्रवरां च सप्त-दशप्रकारामुदितां जिनेन्द्रैः ।
विधाय पूजां स्वमनोरथान् यः, पपर्व[8] सर्वं स शशर्व[9] पापम् ॥१०६॥

सौभाग्यमालां खलु पुण्यमालां, प्रफुल्लफुल्लालिविशालिमालाम् ।
प्रक्षिप्य कण्ठे वपुषोच्चकण्ठे, विशः समुत्कण्ठयति स्म चान्यान् ॥१०७॥

---

१. इहेति एषः अद्भुतसम्पत् इन्द्रः अस्मिन्वाक्ये । २. इदमति–अयमिवाचरति । ३. मानरायं । ४. जिनो हि सङ्घाधिपतु । ५. तदानीं–तस्मिन्काले पूजाविधानसमये इत्यर्थः । ६. किलेति सत्ये समानां वर्षाणां द्वाभ्यां विंशतिभ्यां चत्वारिंशद्वर्षेभ्य इत्यर्थः । ७. अद्य अस्मिन्काले । ८. 'पर्व' पूरणे भ्वादिः । ९. शर्व हिंसायाम् तालव्यादिर्भ्वादिः ।

जेगीयमानेषु भृशं वशाभि - र्गेयेषु नेयेसु विशां श्रवस्सु ।
सङ्घाधिपत्यं स मुदा प्रपेदे, युगप्रधानाज्जिनचन्द्रसूरेः ॥१०८॥

तदा च वाद्यध्वनिराऽऽविरासीत्, जयारवं चोचुरनेकलोकाः ।
ददावमानं स धनादिदानं, करोति किं किं न मनः प्रसन्नम् ॥१०९॥

'प्रसन्नहृन्ना कुरुते न किं किम्' इति वा पाठः ।

ततः प्रवन्द्याऽऽदिजिनादिदेवं, लब्धर्द्धिलाभः स समाजगाम ।
अधित्यकायाः सदुपत्यकायां, शत्रुञ्जयाद्रेः शिखरीश्वरस्य ॥११०॥

सितोपलाघारजलेबिकाभिः, सर्पिष्कशाकाद्भुततेमनाभिः ।
सद्व्यञ्जनैः फालिभिरुज्ज्वलाभिः,सङ्घाधिपः सङ्घमभोजयत्सः ॥१११॥

द्रव्याणि सद्रव्यविशामधीशो, नॄन्नॄन्प्रति प्रत्यवितप्रतीतः ।
ददौ[1] स दारिद्र्यहरिद्रुमुद्रां[2], दरिद्रलोकस्य च दानवास्या[3] ॥११२॥

कार्प्पास-कौशेयक-रांकवाणि, क्षौमान्वितानि प्रवराम्बराणि ।
वाचंयमेभ्यः स च दर्शनिभ्यः, प्रादादुदाराऽऽदरतोऽभिवन्द्य ॥११३॥

पापिष्ठकाण्ठ्यन्वितकोलिकाद्या, अध्वानमुग्रा रुरुधुर्द्विषन्तः ।
संयुद्ध्य योद्धेव धनायुधैस्तान्, जित्वा च सत्वाज्जितकाश्यऽभूत् सः ॥११४॥

ततः प्रतस्थे जयकारशब्दं, शृण्वन्नुभाकर्णि स सज्जनोक्तम् ।
पुण्यप्रभावाच्च गुरुप्रसादात्, सर्वं शुभं तस्य सदा बभूव ॥११५॥

सुखप्रयाणैः ससुखं सुखी सः, क्रमात् समायात् समया[4] श्रियाग्रः[5] ।
अहम्मदावादपुरं प्रशस्त - श्रिया समुल्लासि विलासिलोकम् ॥११६॥

महोत्सवेनाभ्यविशत् प्रहृष्टः, पुरान्तराऽऽत्मीयगृहान्तरा च ।
महाजनान्मञ्जुलकुण्डलीभिः, प्रभोज्य हस्ते च ददौ ततः स्वम् ॥११७॥

शत्रुञ्जयाधीशितुरादिनाथ - तीर्थङ्करस्य स्वकरेण पूजाम् ।
कृत्वा स्ववाण्या गुणवर्णनां च, श्रीसोमजीयोगिसुतस्तुतोष ॥११८॥

---

१. दरावान्, पक्षे चिच्छेद । २. दारिद्र्यहरिद्रुमुद्रां–दारिद्र्यवृक्षमर्यादाम् । ३. कुहाडा । ४. समस्तया शोभनया वा । ५. श्रियाढ्यः (इति वा पाठः)

कुर्वंल्लसच्छ्रीपितृसत्पितृव्य-क्षमाब्जसेवां विनयी नयज्ञः[1] ।
शिवादिभिर्भ्रातृभिरात्मजैः स्वैः, पितृव्यपुत्रैश्च विराजमानः ॥११६॥
युग्मम्

इति सङ्घपतिश्रीयोगिनाथादिविराजमान-श्रीसोमजी-
सङ्घपति-श्रीशत्रुञ्जयतीर्थयात्रावर्णनम् ।

४ ८ ६ १
वर्षे चतुर्दिग्गजरागमेरुसंख्ये १६४८ हलाराभिधमण्डलस्य ।
अत्यन्तदुःखाकुललोकबन्दि, व्यमोचयद् द्रव्यचयं स दत्वा ॥१२०॥
ते बन्दिलोका अपरे च लोकाः, प्रोचुस्तदानोमिति सत्यवाचम् ।
त्वं विश्वपालः सकलाचलाया, आधारभूतोऽसि मनोजवो नः ॥१२१॥

इति बन्दिमोचनम् ।

रूप्यार्द्धकस्यैधित शाश्वतर्द्धिः, सोऽभिव्यधाल्लम्भनिकां विलोभः ।
गच्छे बृहत्खारतरे समस्ते, धर्मेऽतिगृध्नुर्न धने धनीन्द्रः ॥१२२॥
सार्धमिकेभ्यो हि निजानिजेभ्यः, करांगुलीनां परिधापनाय ।
हेम्नो नवीनान् वलयान् बलीया-नेनो विनाशाय ददौ च स द्धिः ॥१२३॥

इति श्रीसङ्घपति श्रीसोमजीकृत-सर्वखरतरगच्छसामग्री-
लम्भनिका-श्रावकनिकरकराङ्गुलीवलयारोपणयोर्वर्णनम् ।

श्रीश्यामलाख्ये किल पाटके यः, स्पष्टस्फटश्यामलपार्श्वचैत्यम् ।
अत्यद्भुतं कारयति स्म सम्यङ्, द्रव्यव्ययात् सोऽभिननन्द लक्ष्म्याः
॥१२४॥
श्रीसूत्रधारस्य धनाभिधस्य, प्रतोलिकायां बहुलालयायाम्[2] ।
चतुर्मुखं शान्तिजिनेशचैत्यं, श्रीसोमजीः कारयितुं व्यवाञ्छद् ॥१२५॥
रूप्योपमानाश्मभिरादिनाथ - तीर्थङ्करोच्चप्रतिमा विराजि ।
वसुन्धरान्तःशरणं शरण्यस्ततः पुरा कारयति स्म रम्यम् ॥१२६॥
विचित्रितं चित्रकृता नृचित्रैस्तद्वीक्ष्य लोका इति संदिहन्ति ।
पातालवास्यर्चिचिपुर्जनः किं, विवन्दिषुश्चात्र सदाऽस्त एषः ॥१२७॥

---

१. विनीत इति पाठो वाः । २. स्वगृहोपकण्ठे इति वा पाठः ।

सेवावियोगोऽस्य जिनस्य न स्याद्, बुद्धय ेति देवा भुवनाधिपाद्याः ।
यत्र स्थिता भान्ति हि चित्रदम्भाद्, भूस्थं निरीक्ष्येति वदन्ति [1]तज्ज्ञाः
॥१२८॥

श्रीसोमजीकारित-श्रीमदादीश्वरजिनभूमध्यस्थितचैत्यवर्णनम् ।

तस्योपरि ब्रह्मशरीरतीदं, तद्भाति यत् शान्तिजिनेशचैत्यम् ।
चतुर्मुखं हेमघटोत्तमाङ्गं, चतुःसुवर्णाश्रितकुम्भवेदम् ॥१२६॥

व्या०—तदिदं शान्तिजिनेशचैत्यं भाति । क्व? तस्य भूमिगृहश्रीमदादिदेव-चैत्यस्य उपरि । तदिति किम् ? यत्शान्तिजिनेशचैत्यं ब्रह्मशरीरति–ब्रह्मशरीर-मिवाचरति । कथम्भूतं शान्तिजिनेशचैत्यम् ? चतुर्मुखं–चतुर्द्वारम् । कीदृशं ब्रह्म-शरीरम् ? चतुर्मुखं प्रसिद्धम् । कथम्भूतं शान्तिजिनेशचैत्यम् ? हेमघटोत्तमाङ्गं स्वर्णकलशाभिरामाङ्गं, यद्वा हेमघट एव–पञ्चमस्वर्णकलश एव उत्तमाङ्गमिव उत्तमाङ्गं यस्य तत् हेमघटोत्तमाङ्गम् । कथम्भूतं ब्रह्मशरीरम्? हेम्नो घटा–रचना यस्मिंस्तत् हेमघटं, एवंविधं उत्तमाङ्ग–शिरो यस्मिंस्तत् हेमघटोत्तमाङ्गं । हेम-घटात्–ब्रह्माण्डादुत्तममङ्गं हिरण्यवर्णब्रह्माण्डप्रभवत्वात् । यत्पुराणम्—

'हिरण्यवर्णमभवद्, ब्रह्माण्डमुदकेशयम् ।
तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयम्भूर्लोकविश्रुतः ॥१॥

इति । पुनः कथम्भूतं शान्तिजिनेशचैत्यम् ? चतुःसुवर्णाश्रितकुम्भवेदं चत्वारः सुवर्णाश्रिताः–सुवर्णमयत्वात् कुम्भाः–कलशास्तेषां वेदः–विद्यमानता निवासो वा यस्मिंस्तत्तथा । 'विदिच् सत्तायाम्' दिवादिरात्मनेपदी, 'विदिण् चेतनाख्याननिवासेषु' चुरादिरात्मनेपदी, अनयोर्घञि, वेदः । यद्वा, चतुःसुवर्णा-श्रितकुम्भा विद्यन्ते–सन्ति वेदयन्ते निवसन्ति वा यस्मिंस्तत्तथा, अच् । कथम्भूतं ब्रह्मशरीरम् ? चत्वारः सुवर्णाश्रिताः–शोभनाक्षरान्विताः कुम्भा इव कुम्भाः समीहितदातृत्वेन पूर्णकलशोपमाना वेदा यस्मात् यस्मिन् वा तत् चतुःसुवर्णाश्रित-कुम्भवेदम् ॥१२६ ।

चतुष्कषायाऽरिविनाशनाय, रंकुम्भशार्ङ्गादिचतुष्क[2] - शस्त्राम् ।
दधच्चतुर्द्वारचतुर्भुजश्रीं, श्रीशान्तिचैत्यं हरिरूपतीदम् ॥१३०॥

१. चैत्यम् । २. स्मु ।

यद्भित्तयो यद्वलभी च दीव्यद्, विचित्रचित्रैः समलंकृता हि ।
सुवर्णमेलालिखितैर्मनीषि-लेखेन तद्भाति जिनेशचैत्यम् ॥१३१॥
समीक्ष्य नानाविध[1]-चित्रदम्भाद्, विपश्चितः केचिदिति ब्रुवन्ति ।
यथोचितं स्थानमवाप्य देवाः, सेवन्त एते किममुं जिनेशम् ॥१३२॥
चतुर्मुखाग्रे स्थितपञ्चकुम्भ - शृङ्गोत्तमं भूत्तमभासुराभम् ।
यत्पञ्चमेर्वंगति दीव्यदर्हत्, तत्सोमजीकारितचैत्यमीष्टे ॥१३३॥
वर्षे त्रिपञ्चतुंगभस्तिसंख्ये १६५३, चैत्याऽष्टकाऽर्हत्प्रतिमाप्रतिष्ठाम् ।
अकारयच्छ्रीजिनचन्द्रसूरेर्युगप्रधानस्य गुरोः करात्सः ॥१३४॥
तस्मिन्क्षणे सर्वमहाजनौघान्, सोऽभोजयद् द्रव्यमदाच्च तेभ्यः ।
साध्वादिसद्दर्शनिनां सुभक्त्या, व्यवहारयच्चारुतराम्बराणि ॥१३५॥
लोका अनेके किल मागधाद्या, जयारवं प्रोचुरितीह केचित् ।
केचिच्च पूर्वाऽऽधुनिकाग्रपुंसां, कीर्त्तिस्त्रियो नायक एष आसीत् ॥१३६॥

इति चतुर्मुखश्रीशान्तिनाथचैत्यवर्णनम् ।

अकारयत्तीर्थकृतो विहारानेकैकतोऽष्टौ नृमनोभिरामान् ।
एवं विधान् धन्यतमात्ममुख्यः, श्रीसोमजीः सङ्घपतिः प्रतीतः ॥१३७॥
श्रीसोमजीः शम्भुरिवाष्टमूर्त्तिश्चैत्याष्टकव्याजत एष साक्षात् ।
भातीति लोको मनुते स्वचित्ते, समीहितानि त्वरितं प्रयच्छन् ॥१३८॥
सिद्धान्तटीकाप्रभृतीनि सर्वशास्त्राण्यनेकानि विलेख्य लेखात् ।
अकारयत् पुस्तककान्तकोशं, गुर्वाननात् ज्ञानफलं निशम्य ॥१३९॥
सार्वत्रिकीं खारतरीं सदैवं, गच्छोन्नतिं सोऽकृत[2]- सौकृतात्मा[3] ।
तपांस्यऽतप्ताऽपर दुस्तपानि,प्राभक्त भक्त्याऽऽत्मगणाऽऽस्तिकांश्च ॥१४०॥

---

१. चत्यं बहु । २. अकृत अकरोत् । ३. सुकृतस्य पुण्यस्यायं सौकृतः, सौकृत आत्मा यस्येति ।

राजस्थान—सरकार

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान

जोधपुर

प्रकाशन-सूची

क्रमांक	ग्रन्थ-नाम	सम्पादक	मूल्य
१.	त्रिपुराभारती लघुस्तवः	मुनि जिनविजय	३-२५
२.	कर्णामृतप्रपा	"	२-२५
३.	बालशिक्षा-व्याकरण	"	७-७५
४.	प्रमाणमंजरी	पट्टाभिराम शास्त्री	६-००
५.	यन्त्रराजरचना	केदारनाथ ज्योतिर्विद्	१-७५
६.	महर्षिकुल वैभवम्	गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी	१०-७५
७.	वृत्तिदीपिका	पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी	२-००
८.	राजविनोदमहाकाव्य	गोपालनारायण बहुरा	२-२५
९.	तर्कसंग्रह फक्किका	प्रो० जितेन्द्र जेटली	३-००
१०.	प्राकृतानन्द	मुनि जिनविजय	४-२५
११.	कान्हड़दे प्रबन्ध	कान्तिलाल बलदेवराम् व्यास	१२-२५
१२.	उक्तिरत्नाकर	मुनि जिनविजय	४-७५
१३.	क्यामखां रासा	डा० दशरथ शर्मा, अगरचन्द भंवरलाल नाहटा	४-७५
१४.	कूर्मवंशयशप्रकाश (लावारासा)	महताबचन्द्र खारेड़	३-७५
१५.	श्रृंगारहारावली	डा० प्रियबाला शाह	२-७५
१६.	कृष्णगीतिः	"	१-७५
१७.	नृत्तसंग्रह	"	१-७५
१८.	कसम्बन्धोद्योत	डा० हरिप्रसाद शास्त्री	१-७५
१९.	शब्दरत्नप्रदीपः	"	२-००
२०.	चक्रपाणिविजय-महाकाव्य	प्रो० केशवराम काशीराम शास्त्री	३-५०
२१.	बांकीदास री ख्यात	नरोत्तमदास स्वामी	५-५०
२२.	दुर्गापुष्पांजली	गंगाधर द्विवेदी	४-२५
२३.	दशकण्ठवधम्	"	४-००
२४.	नृत्यरत्नकोश भाग १	प्रो० आर. सी. परीख एवं डा० प्रियबाला शाह	३-७५
२५.	नृत्यरत्नकोश भाग २	"	६-७५

२६.	कर्णकुतूहल नाटक,		
	कृष्ण लीलामृत काव्य	गोपालनारायण बहुरा	१-५०
२७.	राजस्थानी साहित्य संग्रह भाग १	नरोत्तमदास स्वामी	२-२५
२८.	वासवदत्ता-कथा	डा०जयदेव मोहनलाल शुक्ल	४ ५०
२९.	ईश्वरविलास महाकाव्य	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री	११-५०
३०.	पद्यमुक्तावली	"	४-००
३१.	राजस्थान में संस्कृत-साहित्य		
	की खोज	पं० ब्रह्मदत्त त्रिवेदी	३-००
३२.	जुगलविलास	रानी लक्ष्मीकुमारी चूंड़ावत	१-७५
३३.	वीरवांण	"	४-५०
३४.	कवीन्द्रकल्पलता	"	२-००
३५.	गोरा-बादल-पद्मिणी चउपई	डा० उदयसिंह भटनागर	५-००
३६.	वसन्तविलास फागु	मधुसूदन चिमनलाल मोदी	५-५०
३७.	स्वयम्भूछन्द	हरिदामोदर वेल्हणकर	७-७५
३८.	पदार्थरत्न-मंजूषा	मुनि जिनविजय	३-७५
३९.	चान्द्रव्याकरण	पं० बेचरदास जीवराज दोसी	७-००
४०.	गोरा-बादिल-चरित्र	मुनि जिनविजय	४-००
४१.	रसदीर्घिका	गोपालनारायण बहुरा	२-००
४२.	हस्तलिखित ग्रन्थ सूची भाग १		७-५०
४३.	भगतमाल	उदयराज उज्जवल	१-७५
४४.	राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ-सूची भाग १		४-५०
४५.	वस्तुरत्नकोश	डा० प्रियबाला शाह	४-००
४६.	काव्य प्रकाश प्रथम भाग	प्रो० रसिकलाल छो० परीख	१२-००
४७.	काव्य प्रकाश द्वितीय भाग	"	८-२५
४८.	मुंहता नैणसी री ख्यात भाग १	बद्रीप्रसाद साकरीया	८-५०
४९.	" " भाग २	"	६-५०
५०.	रघुवरजस प्रकाश	सीताराम लालस	८-२५
५१.	हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची (भाग २)	गोपालनारायण बहुरा	१२-००
५२.	राजस्थानी साहित्य-संग्रह (भाग २)	पुरुषोत्तमलाल मेनारीया	२-७५
५३.	" " (भाग ३)	लक्ष्मीनारायण गोस्वामी	५-५०
५४.	भुवनेश्वरी महास्तोत्रम्	गोपालनारायण बहुरा	३-७५
५५.	विद्याभूषण ग्रंथ-संग्रह सूची	गोपालनारायण बहुरा एवं लक्ष्मीनारायण गोस्वामी	६-२५
५६.	सूरजप्रकाश भाग १	सीताराम लालस	८-००
५७.	सूरजप्रकाश भाग २	"	९-५०

५८.	राजस्थानी हस्तलिखित ग्रन्थ सूचि भाग २	डॉ० पुरूषोत्तमलाल मेनारिया	२-७५
५६.	महर्षिकुल वैभवम् (मूल)	प्रद्युम्न शर्मा	४-००
६०.	रत्नपरीक्षादि सप्तग्रन्थ-संग्रह		६-२५
६१.	वृत्तजातिसमुच्चय	हरि दामोदर वेल्हणकर	५-२५
६२.	कविदर्पण	"	६-००
६३.	नेहतरंग	रामप्रसाद दाधीच	४-००
६४.	एकाक्षरनामकोश-संग्रह	पन्यास रमणीक विजय	६-००
६५.	हम्मीर-महाकाव्य	मुनि जिनविजय	१५-००
६६.	मत्स्य-प्रदेश की हिन्दी साहित्य को देन	डा० मोतीलाल गुप्त	७-००
६७.	सूरजप्रकाश भाग ३	सीताराम लालस	६-७५
६८.	समदर्शी आचार्य हरिभद्र	अनु. शान्तीलाल जैन	३-००
६६.	वृत्तमुक्तावली	भट्ट मथुरानाथ शास्त्री	३-७५
७०.	इन्द्रप्रस्थ-प्रबन्ध	डा० दशरथ शर्मा	२-२५
७१.	ए केटलॉग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट १)	मुनि जिनविजय	३७-५०
७२.	मुंहता नैणसी री ख्यात भाग ३	बद्रीप्रसाद साकरीया	८-००
७३.	बुद्धिविलास	पद्मधर पाठक	३-७५
७४.	रुखमणीहरण	पुरुषोत्तमलाल मेनारीया	३-५०
७५.	प्रतापरासो	डा० मोतीलाल गुप्त	६-७५
७६.	संत कवि रज्जब	डा० ब्रजलाल शर्मा	७-२५
७७.	ए केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट २ ए)	मुनि जिनविजय	३४-५०
७८.	भक्तमाल	अगरचन्द नाहटा	६-७५
७६.	वृतमौक्तिक	म. विनयसागर	१८-२५
८०.	पश्चिमी भारत की यात्रा	गोपालनारायण बहुरा	२१-००
८१.	ए केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट २ बी)	मुनि जिनविजय	३६-५०
८२.	" " पार्ट २ सी	"	२१-००
८३.	विन्हैरासो	सौभाग्यसिंह शेखावत	६-७५
८४.	सौढायण	शक्तिदान कविया	७-००
८५.	ए केटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स (पार्ट ३ ए)	मुनि जिनविजय	३८-५०
८६.	मुंहता नैणसी री ख्यात, भाग ४	बद्रीप्रसाद साकरिया	८-७५

८७.	मधुमालती सचित्र कथा	डॉ० फतहसिंह	१८-७५
८८.	आगमरहस्य-पूर्वार्द्ध	गंगाधर द्विवेदी	१५-००
८९.	शकुनप्रदीप	डॉ० फतहसिंह	१-००
९०.	पाठ्यरत्नकोश	गोपालनारायण बहुरा	३-७५
९१.	ए केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स-(पार्ट ३ बी)	मुनि जिनविजय	४८-७५
९२.	नन्दोपाख्यान	डॉ० फतहसिंह	१-००
९३.	राठौड़ाँ री वंशावली एवं राठौड़-वंश री विगत	डॉ० फतहसिंह	२-१५
९४.	चण्डीशतक टीकाद्वय सहित	गोपालनारायण बहुरा	५-२५
९५.	कविकौस्तुभ	डॉ० फतहसिंह	२-००
९६.	मीरां बृहत्पदावली, प्रथम भाग	हरिनारायण पुरोहित	७-५०
९७.	स्थूलिभद्रकाकादि	डॉ० आत्माराम जाजोदिया	१-७५
९८.	राजस्थानी वीर गीत-संग्रह, भाग १	सौभाग्यसिंह शेखावत	६-५०
९९.	गजगुण-रूपक बन्ध	सीताराम लालस	६-००
१००.	वैताल-पच्चीसी	डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया	३-५०
१०१.	मारवाड़ रा परगना री विगत भाग १	डॉ० नारायणसिंह भाटी	१५-५०
१०२.	राजस्थानी वीर गीत-संग्रह, भाग २	सौभाग्यसिंह शेखावत	६-२५
१०३.	देवीचरित, प्रथम भाग	हुकमचन्द चतुर्वेदी	१३-२५
१०४.	राजनीति रा कवित्त	डॉ० नारायणदत्त श्रीमाली	५-००
१०५.	सिन्धुघाटी की लिपि में ब्राह्मणों और उपनिषदों के प्रतीक	डॉ० फतहसिंह	५-००
१०६.	शङ्करीसङ्गीतम्	लक्ष्मीनारायण गोस्वामी	१-२५
१०७.	संघपति रूपजी वंश-प्रशस्ति	महोपाध्याय विनयसागर	१-२५
१०८.	सनत्कुमारचक्रिचरित महाकाव्य	महोपाध्याय विनयसागर	११-५०
१०९.	पथ्यास्वस्तिः सहिन्दीव्याख्या	सुरजनदास स्वामी	६-००

१. पुस्तक विक्रेताओं को २५% कमीशन दिया जाता है।
२. पुस्तकें नकद अथवा बैंक द्वारा सप्लाई की जाती है।
३. डाक-व्यय एवं पेकिंग व्यय अलग से होगा।

मुद्रक:—सज्जन प्रिन्टिङ्ग प्रेस, त्रिपोलिया बाजार-जोधपुर (राज०)